सिद्ध योग

वर्ष—७
अङ्क—२

जून
१९७४

संस्थापक ✠ सम्पादक ✠ संरक्षक ✠...

योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

वार्षिक मूल्य
१२ रुपया

एक अंक
का
१—५०

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन सवाँई एत्मादपुर (आगरा)

प्रकाशक

संयुक्त सम्पादक
श्री दिव्य

इस अंक में :—

—❀❀❀—

पृष्ठ	लेख	लेखक
१	शम्भो पदं निर्भयम्	.. ..
२	हमारा विशेष लेख	योगयोगेश्वर अनन्त
	अभ्यास और वैराग्य	श्रीचन्द्र मोहनजी महाराज
९	शुद्धज्ञान	श्री रामदासजी
१३	साधक के लिए	ज्ञानदेव
१४	जीवन तत्त्व साधन	
	(नाड़ी संचालन)	श्री गिरीशदेव वर्मा
२१	ब्रह्मचक्र रंध्र, और	श्री जगदीश नारायण
	सहस्र दल कमल	मेहरा
२८	महामुद्रा-महाबंध-एवं महावेध	श्री गुरुदेवजी महाराज
३३	योग ही मोक्ष प्राप्ति का	श्री रामधन शर्मा, शास्त्री
	साधन है	
३७	श्री खुशीराम गर्ग	ब्रह्मचारी केशवदेव
४४	साधकों के प्रश्न तथा	श्री सद्गुरुदेवजी द्वारा
	उनके उत्तर	
३	टाइटिल का परकाया-प्रवेश	

सिद्ध योग

वर्ष ७
अङ्क ३

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुखं न विरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्त्यर्थान् सद्गुरुविशदान् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

जून
१९७४

❀ शम्भोः पदं निर्भयम् ❀

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं कायेकृतान्ताद् भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां शम्भोः पदं निर्भयम्

भोग में रोगका भय, ऊँचे कुल में उत्पन्न होने पर उससे नीचे गिरने का भय, धन रहने पर राजा का भय, मान में दीनता का भय, बल रहने पर शत्रु का भय, सौन्दर्य रहने पर वार्धक्य का भय, वेदान्तादि शास्त्र के रहने पर वाद विवाद का भय, विनय आदि गुणों के होने पर दुष्टों का भय, शरीर रहने पर यम का भय, कहने का तात्पर्य यह कि इस संसार में सभी पदार्थ भय से व्याप्त है केवल एकमात्र भगवान् शिवजी का चरण ही निर्भय का स्थान है ।

हमारा विशेष लेख—

अभ्यास और वैराग्य

[योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज]

'सिद्धयोग' के छठे वर्ष के विशेषांक में हमने शास्त्रोक्त विधि से क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों के स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया है। ये क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियें ही मनुष्य को जन्म-मरण के चक्कर में डाले रहती हैं। वृत्ति संस्कार चक्र अहर्निशि चलता रहता है। इसके निरोध के लिए योगिराज लोग प्रत्येक क्षण प्रयत्नशील रहते हैं। सन्त-महात्मा-साधुजन अपने गृहस्थ व्यवहार को छोड़कर वनों में वास किया करते हैं, जिससे जन्म-मरण के चक्कर से बच जायें। भगवान पतंजलि देव ने योग-दर्शन में इन वृत्तियों के निरोध के लिए दो उपायों का वर्णन किया है और वह उपाय है—अभ्यास और वैराग्य यथा :—

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

इस सूत्र के भाष्य में श्री व्यासदेवजी लिखते हैं कि —

चित्त नदी नामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च, या तु कैवल्य प्राग्भारा विवेकविषय निम्ना सा कल्याणवहा संसारप्राग्भाराऽविवेक विषयनिम्ना पापवहा, तत्र वैराग्येण विषय स्रोतः खिलो क्रियते विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत। उद्घाट्यते इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्ति निरोधः

अर्थात् चित्त नाम नदी का प्रवाह दोनों ओर की तरफ बहता है कल्याण के लिए और अकल्याण के लिए। जिसका प्रवाह कैवल्य से आरम्भ होकर विषय विवेक की ओर झुकता हुआ जाता है वह कल्याणवहा और जिसका स्रोत संसार से पैदा होता है और अविवेक की ओर झुकता है वह चित्त नाम नदी पापवहा कहलाती है। यहाँ पर वासनिक प्रवाह को वैराग्य द्वारा क्षीण किया जाता है और विवेक दर्शन के अभ्यास से ज्ञान को जाग्रत करके अभ्युत्थान की ओर बढ़ता है इस प्रकार से अभ्यास वैराग्य के द्वारा चित्त वृत्ति निरोध होती है। इसी विषय को अखिल लोकपालक भगवान् श्रीकृष्ण ने परिपुष्टित किया है। उन्होंने अर्जुन को उपदेश देते हुए समत्व योग समझाया है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र सम दर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मेन प्रणश्यति॥
सर्व भूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमाश्रितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुनः।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः॥

अर्थात् आत्मानं सर्वं भूतस्थं सर्व भूतानि चात्मनि सर्वत्र सम दर्शनो योग युक्तात्मा ईक्षते। अपने आपको प्राणीमात्र के अन्दर और प्राणीमात्र को अपने अन्दर योग युक्तात्मा देखता है। इस प्रकार की स्थिति वाले योगी के लिए भगवान आदेश करते है कि जो मुझे सर्वत्र देखता है, और सभी को मेरे अन्दर देखता है। उसके लिए मैं नष्ट नहीं होता और वह मेरे लिए नष्ट नहीं होता। जो योगी सर्वभूतस्थित मुझको एक जगह अवस्थित होकर के भजता है, सभी स्थितियों में रहता हुआ भी वह योगी मेरे अन्दर रहता है। एवं जो सभी के दुःख-सुख को अपने दुःख-सुख के समान समझता है, समता में स्थित रहने वाला वह योगी सर्व-श्रेष्ठ एवं ऊँचा माना गया है। भगवान श्रीकृष्ण के इस प्रकार उपदेश करने पर मन की चंचलता को बतलाते हुए इस योग को प्राप्त करने में बहुत ही कठिनता का संकेत किया। अर्जुन ने कहा—

यो यं योग त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिरां॥
चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्थात् हे प्रभो! आपने समत्व के द्वारा जिस योग का उपदेश दिया वह तो बिलकुल ठीक है किन्तु मन के चंचल होने से स्थिति को मैं कैसे प्राप्त करूँ। मन मसल डालने वाला और बहुत ही चंचल है इसका पकड़ लेना तो मैं इतना दुष्कर मानता हूँ कि जैसे वायु का पकड़ लेना दुष्कर है। इसका उत्तर देते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने मन की चंचलता को निम्नांकित श्लोकों में स्वीकार किया और रोकने के लिए अभ्यास और वैराग्य का उपदेश दिया।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप्य इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

अर्थात् हे अर्जुन इसमें कुछ भी शंका नहीं है कि मन का रोका जाना बहुत ही कठिन है किन्तु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उसे पकड़ा जा सकता है। जो लोग असंयतात्मना हैं वह योग को नहीं प्राप्त कर सकते। इसके अतिरिक्त जो लोग आत्म-वशी हैं वे लोग प्रयत्न करते हुए योग को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए परमश्रेय की प्राप्ति के लिए मनोनिग्रह परमावश्यक है।

भगवान पतंजलि देव एवं अखिलआत्मा श्रीकृष्णजी और समस्त ऋषि मुनियों का यही सिद्धान्त है कि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही मन पकड़ा जा सकता है। अभ्यास के विषय का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान पतंजलि देव लिखते है कि—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः

इस सूत्र पर व्यासदेवजी भाष्य लिखते हैं। चित्तस्या वृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिस्त-दर्थः प्रयत्नो=वीर्यमुत्साहस्तत्संपिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः।

अर्थात् वृत्ति रहित चित्त की प्रशान्त वाहिता स्थिति को सम्पादित करने के लिए यत्नपूर्वक किया हुआ प्रयत्न ही अभ्यास कहलाता है। साधक के लिए अभ्यास के लक्ष्य बहुत है मुण्डे-मुण्डे मतिभिन्ना, के अनुसार साधक अनेक प्रकार की धारणाओं को सामने रखकर अभ्यास करते हैं, और उनको सफलता भी अवश्य मिलती है। किन्तु साधक किसी प्रकार का कोई भी अभ्यास करे उस स्थिति में अभ्यसनीय नियम को सामने रखते हुए यदि अभ्यास करेगा तो जल्दी ही सफलता की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेगा। भगवान् पतंजलिदेव ने किए हुए अभ्यास की सफलता प्राप्त कराने वाले तीन सिद्धान्तों का पातंजलि योग-दर्शन के समाधिपाद के १४वें सूत्र में इस प्रकार वर्णन किया है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ भूमिः॥

दीर्घकाल सेवितः, निरंतरा सेवितः तपसाब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान्, दृढभूमिर्भवति व्युत्थान संस्कारेण द्रागित्येवानभिभूत विषय इत्यर्थः।

अर्थात् किसी भी अभ्यास को साधक जिस समय प्रारम्भ करता है उसको लम्बे समय तक करते रहना चाहिए, और लगातार करना चाहिए निष्ठापूर्वक करना चाहिए, तभी वह अभ्यास सफलता की पराकाष्ठा को पा जाता है। दृढ़ता से किया हुआ अभ्यास सफलता की उन्नतम सीढ़ी पर ले जाकर छोड़ता है। साधक को कर्त्तव्य-परायण रहना चाहिये। जो साधक अपने कर्त्तव्य को छोड़ देता है वह उच्चतम स्थिति को नहीं पा सकता। अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आदेशात्मक शब्दों में बिलकुल स्पष्ट कहा है—

कर्मण्येवाधि कारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भुः मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।

अर्थात् हे अर्जुन ! कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है फलों में नहीं। कर्मफल के पीछे मत पड़े रहो और ऐसा भी नहीं होना चाहिये कि कर्मफल की इच्छा न हो और मनुष्य अकर्मण्य बन जावे। भगवान के इस आदेशानुसार प्रत्येक परमार्थ के साधक को को अभ्यास-परायण बना रहना चाहिये

किन्तु आज इस कलिकाल में हर मनुष्य केवल फल भोक्ता ही बनना चाहता है। वह किसी प्रकार का पुरुषार्थ करना ठीक नहीं समझता ऐसे लोग भाग्य ही भाग्य पुकारा करते है। किन्तु उनको इस बात का ज्ञान नहीं है कि सब कुछ पुरुषार्थ के साथ ही हुआ करता है—

उद्योगिनं पुरुषसिंह मुपैति लक्ष्मी
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति
दैवं निहत्य कुरुपौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्रदोषः

अतः साधक को चाहिए कि वह पुरुषार्थ-शील बना रहे। पुरुषार्थ के द्वारा सभी कुछ प्राप्त किया जा सकता है। पुरुषार्थ के द्वारा प्रारब्ध में परिवर्तन हो जाता है भगवान पतंजलि देव ने यम-नियम-आसन-प्राणायाम-धारणा-ध्यान और समाधि इन योग के आठ अंगों का वर्णन किया है। यह सभी अंग साधना की सीढ़ी हैं किन्तु फिर भी योग की बर्णाश्री अभ्यान्तर धारणा से ही आरम्भ होती है और धारणा मार्ग में प्रवृत्त होने के लिये किसी न किसी विषय को अपना लक्ष्य बनाना पड़ता है। इसलिये इस प्रकार की साधना वाले व्यक्तियों के लिये—मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना के नियमानुसार साधक अपनी-अपनी मति के अनुसार धारणा स्थली का निश्चय करता है। परमार्थ प्राप्ति के इच्छुक-साधक मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा कमलआदि को अपना लक्ष्य बनाते हैं। कोई-कोई भ्रूमध्य मूर्धाज्योति, जिह्वामध्य, जिह्वाग्रे तालुमूल एवं नासिकाग्र आदि को अपना लक्ष्य बनाकर परमश्रेय प्राप्ति की लगन में लग जाते हैं। यही सब साधनामार्ग है, इसके अतिरिक्त भक्तिमार्ग के अभ्यासी ईश्वर को आत्म-समर्पण सर्व कर्म फलत्याग आदि आदि साधनाओं को अपना लक्ष्य बनाकर प्रणिधान के द्वारा समाधि-स्थिति को प्राप्त करते हैं। यही सब सूक्ष्म रूप से अभ्यास का विषय है। हमने एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी है जिसका नाम है 'मन की एकाग्रता के साधन' उस पुस्तक का अध्ययन करके इस विषय को भली प्रकार समझ सकते हैं, इसके अतिरिक्त मनो निग्रह का दूसरा उपाय है वैराग्य। और वह वैराग्य दो श्रेणियों के अन्दर विभक्त है पर और अपर। इसमें से अपर वैराग्य को वशीकार संज्ञा वैराग्य के नाम से योगदर्शन में बताया गया है। यथाः

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य
वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥

इस सूत्र पर पढ़िये व्यास भाष्य—

स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमितिदृष्ट विषयवितृ-ष्णस्य स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्ता वानु-श्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्य दिव्यविषय सम्प्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसङ्ख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशी-कार संज्ञा वैराग्यम्।

अर्थात् स्त्री अन्न, पान, भोग, ऐश्वर्य, आदि देखे हुए विषय और स्वर्ग विदेह प्रकृति लयत्वादि सुने हुए विषय इन सबके दिव्यादिव्य भोगों के अन्दर जो साधक वितृष्ण हो गया है जिसको इन्द्रिय लोलित्य किसी भी प्रकार विचलित नहीं कर सकता ऐसे योगी को वशीकार संज्ञा वैराग्य वाला योगी समझना चाहिये। कहने का अभिप्राय केवलमात्र इतना है कि ध्यान-परायण योगी जिसने अपनी वृत्ति को आत्माकार बना लिया है एवं विषयों में हर समय दोष दर्शन करता है, इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है उसकी इन्द्रियाँ बिना लगाम के खुले घोड़ों के समान नहीं चलती प्रत्युत सधाये हुए घोड़ों की तरह वश में रहा करती हैं। उज्ज्वल से उज्ज्वल आत्मदर्शन करना उनका स्वभाव बन जाता है। वृत्ति को आत्माकार रखना किन्तु इस प्रकार के योगी को भी वास्तविक सुख का भान तो रहता ही है किन्तु वह ज्ञान भी न रहने के बराबर है। लोकपावन अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद् गीता में इसी बात को समझाते हुए बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कह दिया—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

अर्थात् कोई मनुष्य अधिक समय तक भूखा प्यासा पड़ा रहे तो उसकी विषय वासनायें दब जाती हैं किन्तु उसके मन में रस की भावना थोड़ी-सी तो रहती ही है। वह उच्चतम साधना करते हुए भी इस बात को अवश्य जानता है कि भोग में यह आनन्द हुआ करता है। यही उसकी रस भावना है। यह रस भावना मनुष्य के मन में तब तक रहती है जब तक उसको पर-दर्शन प्राप्त नहीं होता। पर-दर्शन प्राप्त हो जाने पर रस की भावना भी नष्ट हो जाती है अर्थात् उस योगी को यह ज्ञान ही नहीं रहता कि भोग में भी कुछ आनन्द हुआ करता है। वशीकार संज्ञा वैराग्य का अभ्यासी योगी स्वर्गादि लोक लोकान्तरों को देखता है। देवकन्याओं के बड़े-बड़े दिव्य चमत्कारिक दृश्य उसके सामने आते हैं। किन्तु उसके मन पर एक दृश्य देखने के अतिरिक्त कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता—हमारे इतिहास इस बात को बतलाते हैं। ऐसे उच्च स्थिति वाले योगियों पर किसी भी प्रकार से वासना ने अपना प्रभाव नहीं डाला एवं वह अपने स्वरूप में ज्यों के त्यों स्थित रहते थे। वशीकार संज्ञा वैराग्य का अभ्यासी योगी ज्यों ही वितर्कानुगत विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत योगी सम्प्रज्ञात योग की श्रेणियों में से निकलता हुआ आगे बढ़ता है तो प्रकृति की उलझनें उसको विचलित नहीं करतीं। किसी भी गुणाधिकार वाली वस्तु में मन लगाना ही पर वैराग्य कहा

गया है। पर वैराग्य समझाने के लिये भगवान पतञ्जलि देव ने एक सूत्र की रचना की पढ़िये वह सूत्र और उस पर व्यास भाष्य की पंक्तियाँ –

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम् ।

व्यास भाष्य—

दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायित-बुद्धि-गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति तद् द्वयंवैराग्यं, तत्र यदुत्तरंतज्ज्ञानप्रसादमात्रं यस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवमन्यते, प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमो यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति, ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्, एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति ॥

अर्थात् निरन्तर पुरुष दर्शन के अभ्यास से देखे और सुने विषयों के अन्दर पुरुष वैराग्य को प्राप्त होता है। इसी का नाम बुद्धि है। स्थूल और सूक्ष्म गुण धर्मों को बुद्धि जब छोड़ देती है तभी समझ लेना चाहिये कि इन्हीं वैराग्य हुआ। वशीकार संज्ञा नाम के वैराग्य का वर्णन पहले कर ही दिया है उसके अतिरिक्त यह दूसरा वैराग्य जिसको पर वैराग्य कहते है, ज्ञान का प्रसाद मात्र है। जिसके प्राप्त हो जाने पर योगी मानता है कि प्राप्त प्रापणीयं क्षीणः क्षेतव्याः क्लेशाः अर्थात् हमने जो प्राप्त करना था प्राप्त कर लिया क्षीण करने लायक क्लेशों को क्षय कर दिया—छिन्न, श्लिष्टपर्वाभवसंक्रमः पोरी दर पोरी जुड़ा हुआ संसार चक्र मैंने काट दिया जिसके न काटने से बार-बार जन्मना मरना पड़ता था, इसी का नाम ज्ञान की पराकाष्ठा एवं पर वैराग्य है। इसका अभ्यास बढ़ जाने पर योगी का मन अपने आप ही रुक जाया करता है। जिन वस्तुओं में हमारी घृणा है उनमें मन स्वाभाविक ही नहीं जाता यही दो मनोनिरोध के उपाय हमारे आचार्यों ने वर्णन किये हैं, जिनके प्राप्त हो जाने पर साधक कृतार्थ हो जाता है। जो लोग अभ्यास-परायण बने रहते हैं उनको वैराग्य भी अनायास ही प्राप्त होता है। मनोनिरोध होने पर ही मनुष्य सुख एवं शान्ति को प्राप्त कर सकता है यही उसके सुख का मूल साधन है।

जीवन-धारा

[बृजबिहारीलाल शर्मा 'विरज्'कुण्डौल, (आगरा)]

जीवन एक सतत् प्रवहमान-अजस्त्र धारा है। मृत्यु के अनन्त पथ पर अविरल रूप से प्रवाहित होती हुई यह धारा कभी सुखों के समतल पर किलोलें करती हुई अग्रसर होती है तो कहीं दुखों के विषम-बीहड़ की विभीषिकाओं में संघर्षमय हाहाकार करती हुई, वन-गह्वर, गिरि-निर्जन आदि के व्यवधानों से निरन्तर जूझती हुई यह कभी-कभी निरन्तर संघर्ष के पश्चात् भी आगे बढ़ पाने में असमर्थ रहती है और अन्ततः इसे अपनी दिशा-

बदल देनी पड़ती है। कहने का तात्पर्य यह है कि धारा के प्रवाह में शिथिलता-तीव्रता आती-जाती रहती है, किन्तु प्रवाह-क्रम रुक कभी नहीं पाता; दिशा-परिवर्तन अवश्य होते रहते है।

जीवन-धारा के इस सतत् प्रवाह का विराम अन्ततः कभी न कभी, कहीं न कहीं तो होता ही होगा! फिर वह चरम-स्थल कौन-सा है जहाँ जाकर प्रवाह की अविराम गति अपने अस्तित्व को किसी विराट् अस्तित्व में समाहित कर अपनी अनन्त-अविरल यात्रा को सफल-सार्थक बनाती है।

भौतिक-जगत में प्रवाहित अनगिनत नदी-धाराओं का प्रवाह अन्ततः जाकर, नदीश की अंक में अपने अनन्त अस्तित्व को समाहित करके उसके साथ तादात्म्य स्थापित करता रहता है। या यों कहना चाहिए कि भौतिक-जीवन की रसमयता में अधिकतम आस्वादु हेतु जिस प्रकार मानवी अपने अस्तित्व का सर्व-समर्पण मानव के पौरुष के समक्ष करके उसके साथ तादात्म्य-स्थापन करती है, उसी भाँति नदी अपने स्व का सर्वस्व समर्पण करके नदीश की अनन्त-अंक में तादात्म्य का स्थापन करती है।

आध्यात्मिक जगत के अन्तर्गत, जीवन रूपी नदी की सतत् प्रवहमान धारा उस अखण्ड परमात्मा रूपी नदीश की असीम अंक में अपने अस्तित्व का तादात्म्य स्थापित करने के लिए सतत् प्रवाहित होती रहती है। नदी की धारा की सार्थकता वस्तुतः इसी में है कि वह निरन्तर-अविराम गति से प्रवाहित होती हुई असीम नदीश की चिर अंक में सदैव के लिए समाहित हो जाय और अपने तथा 'उसके' अस्तित्व का एकीकरण करले। धारा की गति यदि चुकती है तो उसका अन्तिम सलिल-बिन्दु भी अनन्त नदीश की चिर अंक में में ही एकीकृत हो जाता। अन्यथा नदीश की असीम गहराइयों में आकर मिलने से पूर्व पथ की दुर्गम एवं व्यवधान-परिपूर्ण राहों में निरन्तर भटकाव की स्थिति तो रहेगी ही, हो सकता है कि यह भटकाव की स्थिति इतनी दीर्घ-कालिक हो जाय कि नदी के अनन्त प्रवाह में शिथिलता आ जाय और नदीश तक पहुँचते-पहुँचते धारा की रसमयता का अधिकांश तत्त्व विषम संघर्षों में ही चुक जाय।

अतः जीवन-धारा के अजस्र-प्रवाह की सार्थकता भी वस्तुतः इसी में है कि अनन्त परमात्मा-रत्नाकर में समाहित होने से पूर्व भटकाव की स्थिति न्यून से न्यून हो।

> सद्गुरु का वचन ही वेदान्त, सिद्धान्त और प्रत्यक्ष से आत्मानुभव है। जिसे सद्गुरु के वचन सुलभ हैं उसे और क्या चाहिए।
>
> —समर्थ रामदासजी

शुद्ध ज्ञान

[समर्थ रामदासजी]

अब ज्ञान के लक्षण सुनिए। ज्ञान का वास्तविक अर्थ आत्मज्ञान है। जिस ज्ञान से मनुष्य स्वयं अपने आपको जान ले, वही सच्चा ज्ञान है। मुख्य देवता या ईश्वर को जानना, सत्य का स्वरूप पहचानना और नित्य तथा अनित्य का विचार करना ही ज्ञान है। जिसके द्वारा इस दृश्य प्रकृति का अन्त हो जाता है, कोई पंचभौतिक वस्तु नहीं रह जाती और द्वैत-भाव का समूल नाश हो जाता है, उसी को ज्ञान कहते हैं। जो मन और बुद्धि के लिए अगोचर है, जिसके सामने तर्क नहीं ठहर सकता और जो उल्लेख तथा परा वाणी (चार प्रकार की वाणियों में से सर्वश्रेष्ठ वाणी) से भी परे है, वही ज्ञान है। जिसमें कुछ भी दृश्यमात्र नहीं है, जिसमें अहंब्रह्मास्मि का ज्ञान भी अज्ञान ही है और जो परम विमल तथा शुद्ध स्वरूपज्ञान है, वही सच्चा ज्ञान है। लोग सबकी साक्षी तुरीयावस्था को ज्ञान कहते हैं; पर उस अवस्था में होने वाला ज्ञान भी पदार्थ-ज्ञान और व्यर्थ है। दृश्य पदार्थ के ज्ञान को पदार्थ-ज्ञान कहते हैं; पर अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान ही स्वरूप ज्ञान कहलाता है और वही सच्चा ज्ञान है। जहाँ किसी पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं है, वहां सर्व-साक्षित्व का क्या जिक्र है! इसलिए तुरीयावस्था का ज्ञान भी शुद्ध ज्ञान नहीं है। ज्ञान वस्तुतः अद्वैत को कहते हैं जिसमें एक को छोड़कर और दूसरा कोई होता ही नहीं; और तुरीयावस्था प्रत्यक्ष द्वैतरूप है, इसलिए स्वतन्त्र और सदा बना रहने वाला शुद्ध ज्ञान इस तुरीय ज्ञान से भी भिन्न ही है। अब शुद्ध ज्ञान के लक्षण सुनिए। यह ज्ञान कि हम शुद्ध स्वरूप हैं, शुद्ध और स्वरूपज्ञान है। महावाक्य या तत्त्वमसि का उपदेश बहुत अच्छा है; पर यह नहीं कहा गया है इसका जप करना चाहिए। इसका तो साधक को विचार मात्र करना चाहिए। यह महावाक्य सब उपदेशों और मन्त्रों का सार है पर इसका केवल विचार करना चाहिए। इसे जपने से भ्रान्ति का अन्धकार नहीं दूर होता। इस महावाक्य का अर्थ है—हम स्वयं ब्रह्म ही हैं। इसलिए इसका जप करना व्यर्थ ही है। इस महावाक्य की व्याख्या करना ही मुख्य ज्ञान का लक्षण है। इसका शुद्ध लक्ष्य अंश यही है कि हम ब्रह्म के स्वरूप हैं। स्वयं अपने स्वरूप का सच्चा ज्ञान प्राप्त करना परम दुर्लभ ज्ञान

है। यह ज्ञान आदि से अन्त तक स्वयंभू स्वरूप है। जिससे यह सब प्रकट होता है और जिसमें सब कुछ लीन होता है, उसी ज्ञान से बन्धन की भ्रान्ति दूर होती है। जिसके सामने सब मत-मतान्तर दब जाते हैं और जिसकी सहायता से सूक्ष्म विचार करने पर उन सब मतमतान्तरों में एकता दिखाई पड़ती है, जो सब चर और अचर का मूल है, जो शुद्ध और निर्मल स्वरूप है, वही वेदान्त के मत से शुद्ध ज्ञान है। अपने मूल स्थान का अन्वेषण करने से अज्ञान सहज में नष्ट हो जाता है और यही मोक्ष देने वाला ब्रह्मज्ञान है। अपने को पहचान लेने से ही सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है और एक देशीयता का नाश होता है। यदि मन में हेतु रखकर विचार किया जाय कि मैं कौन हूँ, तो यह पता चल सकता है कि मैं देह से भिन्न स्वरूप हूँ।

अस्तु, प्राचीनकाल में जो बड़े-बड़े लोग इस ज्ञान के द्वारा भव-सागर से पार हुए हैं, उनके नाम सुनिए। महामुनि व्यास और वशिष्ठ, समाधानी शुक और नारद महाज्ञानी, जनक आदि, वामदेवादि योगीश्वर, वाल्मीकि और अत्रि आदि ऋषीश्वर, अध्यात्म जानने वाले शौनक आदि तथा सनक आदि, आदि-नाथ, मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ आदि अनेक महात्मा इसी शुद्ध ज्ञान के द्वारा मुक्त हुए हैं। सिद्ध, मुनि, महानुभाव सबका भीतरी भाव वही शुद्ध ज्ञान है और महादेवजी भी सदा उसी के सुख में मग्न रहते हैं। यही ज्ञान वेदों और शास्त्रों का सार है, गुरु-प्रतीति और आत्म-प्रतीति का विचार है और यह भक्तों को बड़े भाग्य से मिलता है। जिस ज्ञान की सहायता से साधु, सन्त और सज्जन, भूत, भविष्य तथा वर्तमान की सब बातें जानते हैं, उससे भी बढ़कर गूढ़ यह आत्मज्ञान है। यह ज्ञान तीर्थ, व्रत, तप, दान, धूम्रपान (उलटे होकर जलती हुई आग के ऊपर लटकना और उसका धूआँ पीना), पंचाग्नि या गोरांजन (ईश्वर के नाम पर अपने आपको जला देना) से भी यह ज्ञान नहीं प्राप्त होता। यह समस्त साधनों का फल और समस्त ज्ञान की चरम सीमा है और इससे संशयों का समूल नाश होता है। छप्पन भाषाओं और उन सबके ग्रन्थों से लेकर वेदान्त तक सबका गहन अर्थ वही एक ज्ञान है। पुराणों से उसका पता नहीं चलता, वेदवाणी उसके वर्णन में थक जाती है, पर गुरु की कृपा से मैं यहाँ उसका रहस्य बतलाता हूँ। यद्यपि संस्कृत और मराठी ग्रन्थों का मुझे कोई ज्ञान नहीं है, पर मेरे हृदय में कृपामूर्ति सद्गुरु स्वामी विराजमान हो गये हैं, इसलिए अब मुझे संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थों की कोई आवश्यकता नहीं है। मेरे स्वामी कृपापूर्वक मेरे हृदय में आकर बस गये हैं। वेदाभ्यास या सद्ग्रन्थों का अध्ययन या इसी प्रकार का कोई प्रयत्न किये बिना ही केवल सद्गुरु की कृपा से यह बातें सहज में हो सकती हैं।

मराठी के जितने ग्रन्थ हैं, उन सबसे श्रेष्ठ वेदान्त है। जिस वेदान्त में वेदों की सभी बातें आ गई हैं उस वेदान्त से बढ़कर श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। उस वेदान्त को मथकर जो गहन परमार्थ निकाला गया है, वह अब आप लोग सुनिए। वह गहन से भी गहन सद्गुरु का वचन है जिससे अवश्य ही समाधान होता है। सद्गुरु का वचन ही वेदान्त, सिद्धान्त और प्रत्यक्ष आत्मानुभव है। जो अत्यन्त गहन है, जो मेरे स्वामी का वचन है, जिससे मुझे अत्यन्त शान्ति मिली है, वही अपने हृदय की बात मैं आप लोगों को अब बतलाता हूं। आप लोग सावधान होकर सुनें। शिष्य ने म्लान वदन होकर दृढ़ता से गुरुदेव के पैर पकड़ लिये; तब गुरुदेव ने कहना आरम्भ किया –

"अहं ब्रह्मास्मि" यजुर्वेद का महावाक्य है और उसके अर्थ के सम्बन्ध में कोई तर्क नहीं हो सकता और इसी से गुरु तथा शिष्य में एकता होती है। इसका अभिप्राय यही है कि स्वयं तुम्हीं ब्रह्म हो। इस विषय में कोई सन्देह या भ्रम मत करो। नवधा भक्ति में जो मुख्य आत्म-निवेदन है उसका भी यही अभिप्राय है। कल्पान्त में इन पंच महाभूतों का नाश हो जाता है, प्रकृति तथा पुरुष भी ब्रह्म हो जाते हैं। दृश्य पदार्थों का नाश होते ही स्वयं 'मैं' भी नहीं रह जाता। और परम ब्रह्म तो आरम्भ से ही अद्वैत है। उसमें सृष्टि का तो कोई जिक्र ही नहीं है और आरम्भ से ही एकता या अद्वैत है, वहां पिण्ड और ब्रह्माण्ड कुछ भी दिखाई नहीं देता। ज्ञान रूपी अग्नि के प्रकट होते ही दृश्य रूपी कूड़ा-करकट सब नष्ट हो जाता है और उसी के तदाकार हो जाने से भिन्नता का मूल ही नहीं रह जाता। जब यह समझ में आ जाता है कि यह संसार मिथ्या है, तब फिर उस संसार में मन नहीं लगता। उस समय संसार यद्यपि दृश्य रहता है, पर फिर भी उसका अभाव-सा जान पड़ता है, और इस प्रकार सहज में ही आत्म-निवेदन हो जाता है। यदि गुरु में तुम्हारी अनन्य भक्ति है, तो तुम्हें किस बात की चिन्ता है? तब तुम्हें अभक्त बनकर, अलग होकर, नहीं, रहना चाहिए। इसी भाव को दृढ़ करने के लिए सद्गुरु का भजन करना चाहिए। सद्गुरु का भजन करने से अवश्य ही शान्ति मिलती है। हे शिष्य! इसी का नाम आत्म-ज्ञान है, इसी से परम शान्ति मिलती है और संसार का भय तथा बन्धन समूल नष्ट हो जाता है। जो अपने शरीर को ही "मैं" समझता है, उसे आत्महत्या करने वाला समझना चाहिए। वह अपने देह के अभिमान के कारण अवश्य ही जन्म और मरण का दुःख भोगता रहता है।

हे शिष्य, तुम स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण इन चारों प्रकार के देहों से अलग हो, जन्म-कर्म से भी अलग हो और सारी चराचर सृष्टि में अन्दर बाहर तुम्हीं भरे

हुए हो। वास्तव में किसी के लिए कोई बन्धन नहीं है; सब लोग भ्रम में पड़कर भूले हुए हैं; क्योंकि इन लोगों ने देहाभिमान हठतापूर्वक धारण कर रखा है। हे शिष्य, तुम एकान्त में बैठकर अपने स्वरूप, ब्रह्म-स्वरूप में, विश्राम लो अथवा उसका आनन्द भोगो और इस प्रकार अपना परमार्थ दृढ़ करो। अखण्ड श्रवण और मनन करने से ही समाधान होता है और ब्रह्मज्ञान पूर्ण होने पर वैराग्य होता है। यदि तुम इन्द्रियों को स्वच्छन्द रूप से छोड़ दोगे तो तुम्हारा कष्ट कभी दूर न होगा। जिस प्रकार मणि का त्याग करते ही राज्य मिलता है उसी प्रकार विषयों से वैराग्य होने पर पूर्ण ज्ञान होता है। साँप के मणि का लोभ करके मूर्खता से राज्य का परित्याग करना अच्छा नहीं है। हे शिष्य, सावधान होकर सुनो। अब मैं भविष्य की बात बतलाऊँगा। जिसे जिस वस्तु का ध्यान रहता है, उसे वही प्राप्त होती है। इसलिए जो अविद्या को छोड़कर सुविद्या ग्रहण करता है, उसे शीघ्र ही परमात्मा मिलता है। जिस प्रकार सन्निपात में रोगी भयानक दृश्य देखता है और औषध खाते ही उसे सुख मिलता है, उसी प्रकार अज्ञान रूपी सन्निपात में भी जो संसार के मिथ्या दृश्य या कष्ट देखता है, वह ज्ञान रूपी औषध लेते ही सुखी होता है और फिर उसे वे दृश्य बिलकुल दिखाई नहीं देते। झूठे स्वप्न देखकर रोने वाले व्यक्ति को जगा देने पर वह पहले की सी निर्भय दशा में आ जाता है। स्वप्न तो मिथ्या होता है पर फिर भी वह सत्य जान पड़ता है; इसलिए उसके कारण दुःख होता है; और जो मिथ्या हो, उसका नाश ही कैसे हो सकता है? वह स्वप्न जानने वाले के लिए तो मिथ्या होता है, पर वह निद्रित को घेरे रहता है; और यदि वह भी जाग पड़े तो फिर उसे कोई भय नहीं रह जाता। इसी प्रकार अविद्या की नींद भी इतनी गहरी होती है कि उससे बड़ा भारी पागलपन समा जाता है। इसलिए श्रवण तथा मनन के द्वारा पूर्ण जागृति प्राप्त करनी चाहिए। जागृति का लक्षण यह है कि मन में विषयों की ओर से विरक्ति हो जाय। पर जो विषयों से विरक्त न हुआ हो, उसे साधक समझना चाहिए और उसे अपने बड़प्पन का अभिमान छोड़कर पहले साधन करना चाहिए। जो साधन भी न कर सकता हो, समझ लेना चाहिए कि वह अपने सिद्ध होने के अभिमान के कारण सांसारिक बन्धनों से जकड़ा हुआ है। उससे अच्छा तो मुमुक्षु ही है जो भला ज्ञान का तो अधिकारी है! यदि तुम पूछते हो कि बद्ध, मुमुक्षु, साधक और सिद्ध के लक्षण क्या हैं, तो इसका उत्तर एकमात्र यही है कि जिसे वास्तविक ज्ञान है वही सिद्ध कहा जायेगा।

साधक के लिए !

[१]

साधक के लिए यह अनिवार्य है कि
यम-नियमपूर्वक
चित्त का निरोध करे।
उसके लिए एक शास्त्रीय उपाय भी बतलाया गया है—
अभ्यास-वैराग्य युक्त अष्टांग-योग का।
लेकिन योगशास्त्र का ही कहना है कि
योग द्वारा सधनेवाला यह काम
ईश्वर प्रणिधान से सुगमता से सधता है।
इसलिए ज्ञानदेव कहता है :
हरि-नाम गाओ, सुनो, उसमें तन्मय हो जाओ,
और सहज, लीलया,
संसार पार कर जाओ।
शास्त्रीय उपाय कठिन है
तो कम-से-कम इस सुलभ उपाय को तो अवश्य आजमाओ।

[२]

शरीर जायगा, संपत्ति जायगी, सृष्टि जायगी,
आखिर काल भी जायगा, परन्तु ईश्वर का नाम नहीं जायगा।
क्योंकि प्रभु,
जो सबका मूलाधार है,
अपने अधिष्ठान पर सनातन खड़ा ही है।
तथा वह और उसका नाम
एक ही है।

———

विशेष लेख माला —

जीवन-तत्त्व-साधन

[श्री गिरीशदेव वर्मा, बहराइच]

८. नाड़ी संचालन —

जीवन तत्त्व साधन की आठवीं क्रिया का नाम नाड़ी संचालन है। इसको करने के लिये सीधे बैठ जाइये और अपने पैरों को जितना अधिक से अधिक फैलाया जा सके खोलकर फैलाइये। इस तरह फैलाने पर घुटने के नीचे का भाग और पैर की पिण्डली बिलकुल जमीन से सटी रहना चाहिये। दोनों पैरों के बीच का व्यवधान कम से कम सात बालिश्त का होना चाहिये। इस तरह पैर फैलाने के बाद थोड़ा शरीर को आगे की ओर झुकाकर दाहिने हाथ की अँगुलियों से बायें पैर के अँगूठे को छुओ और बायें हाथ को एकदम पीछे ले जाओ। उसी प्रकार से फिर बायें हाथ को घुमाकर पीछे ले जाओ और बायें हाथ की अँगुलियों से दायें पैर के अँगूठे को छुओ। इस तरह से बराबर चक्राकार घूमते रहो। कहीं रुकने की आवश्यकता नहीं है।

इस क्रिया को पन्द्रह मिनट तक करना चाहिये। इसके करने से गृहणी नाड़ी अपनी यथार्थ स्थिति में रहती है। मन्दाग्नि की निवृत्ति हो जाती है और शरीर की सम्पूर्ण नस नाड़ियाँ सशक्त व सचेत होकर काम करने लगती हैं। और शरीर में पूर्ण कोण रक्त-रस का संचार होने लगता है। हमारे शरीर के अन्दर नस व नाड़ियों का एक जाल बिछा है और उन्हीं के द्वारा शरीर के सभी अंगों का संचालन होता है। नाड़ियों के कमजोर होने से अनेक रोग हो जाया करते हैं। इस बात को समझने के लिये शरीर रचना पर विचार करना आवश्यक है।

किसी कार्य का लाभ पूरा-पूरा तब तक नहीं दिखाई दे सकता जब तक उसको करने वाला उसका कारण और हेतु अच्छी तरह नहीं जान जाता। किसी भी यन्त्र को एक घड़ी ही को लीजिए। उस पर अच्छी तरह ध्यान दीजिए तो आपको मालूम हो जायेगा कि इसके सभी कल-पुर्जे या चक्के अपनी गति के लिये भी एक-दूसरे पर निर्भर हैं और यदि एक स्थान का दाँता टूट जाता है या उसका चक्का ढीला पड़ जाता है अथवा यदि वे चक्के जिस धुरी पर घूमते हैं वही खिसक जाती है तो सारे कल पुर्जों के कार्य में गड़बड़ी पैदा हो जाती है और यदि उसका उपचार नहीं किया गया तो अन्त में घड़ी बन्द ही हो जाती है। यदि मनुष्य के बनाये

यन्त्र की यह अवस्था है तो ईश्वर निर्मित इस सर्वश्रेष्ठ कारीगरी वाले यन्त्र में भी यही बात लागू होती है।

हमने इस मानव शरीर की उपमा एक यन्त्र से दी है। निःसन्देह यह एक यन्त्र ही है और तब तक तो यह यन्त्र अवश्य है जब तक इसका नित्य का कार्यकलाप चल रहा है। परन्तु यह भी समझ रखना चाहिये कि यह केवल यन्त्र ही नहीं है बल्कि यह एक चैतन्य पदार्थ, एक जीवित शक्ति तथा एक कार्य क्षम, बुद्धि सम्पन्न जीव है। जो मनुष्य अपनी शरीर रचना को जानकर कोई साधन करता है वह अधिक सफलता प्राप्त करता है। जीवन तत्त्व साधन करने वालों को भी इसकी क्रियाओं को करते समय यह भावना करनी चाहिये कि अमुक क्रिया से अमुक अंग सुदृढ़ व सचेतन हो रहे हैं और उनके रोग दूर होकर, अंग-प्रत्यंग स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो रहे हैं। जीवन तत्त्व साधन की आठवीं क्रिया नाड़ी संस्थान से सम्बन्ध रखती है। अतः उसके बारे में हम विशेष जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करेंगे।

नाड़ी-संस्थान—

मानव शरीर में यन्त्रों या तन्तुओं के ऐसे समूह हैं जो साधारणतः कार्य किया करते हैं, इन्हें संस्थान (System) कहते हैं। इस तरह जो यन्त्र पाचन क्रिया का कार्य करते हैं उन्हें पोषण संस्थान (Digestive System) कहते हैं और इनके अन्तर्गत ही उदर गह्वर, यकृत ग्रन्थियाँ, प्लीहा, आदि हैं। अब वे यन्त्र जिनसे गति, भाव या चेतना प्रभृति प्राप्त होती है ; उन्हें नाड़ी या स्नायु संस्थान (Nervous System) कहते हैं। नाड़ी संस्थान के दो भाग हैं।

(१) सौषुम्न या मस्तिष्क मेरुदण्ड सम्बन्धी नाड़ियाँ।

(२) सांवेदनिक नाड़ियां (Sympathetic nervous system)

सांवेदनिक नाड़ियों से पोषण यन्त्र, ग्रन्थियाँ तथा रक्त वाहनियों को स्नायु प्राप्त होते हैं। ये सौषुम्न नाड़ियों से मिली हुई हैं तथा इनके दो धर होते हैं जो कशेरुकाओं के दोनों ओर लगे रहते हैं। प्रत्येक धड़ में लम्बे-लम्बे नाड़ी गुच्छ हैं जिन्हें नाड़ी गंड (Ganglia) कहते हैं। नाड़ी सूत्र के सिरे जो नाड़ी गंड से मिल गये हैं वही नाड़ी जाल (Plexuses) है। इन्हीं को चक्र भी कहते हैं, इनका वर्णन हम अगले लेख में करेंगे।

सौषुम्न नाड़ी संस्थान ये हैं :

(१) मस्तिष्क।

(i) बृहत मस्तिष्क (Cerebrum)

(ii) लघु मस्तिष्क (Cerebellum)

(२) मस्तिष्क सेतु (Poro Verstic)

(३) सुषुम्ना।

(४) नाड़ी धड़, नाड़ी सूत्र, नाड़ी गुच्छ

बृहत मस्तिष्क —

दो भागों में बटा है। इन दोनों भागों के मध्य में एक दरार (Sagital Fissures) रहती है। इसके द्वारा मस्तिष्क दो भागों में बँटता है। उन भागों को मस्तिष्क गोलार्ध (Cerebral hemisphere) कहते हैं। ये दोनों दाहिने और बायें दोनों ओर रहते हैं। दाहिने गोलार्ध को (Right hemisphere) और बायें गोलार्ध को (Left hemisphere) कहते हैं। परन्तु ये दोनों भाग भी नीचे से जुड़े हैं। जिस अंश से जुड़े हैं उसे महा संयोजक (Corpus callosum) कहते हैं। बृहत मस्तिष्क का भीतरी पटल धुमैला या मटमैले रंग के पदार्थ या सेलों से बना है। इसमें कहीं उभार और कहीं गहराई रहती है। उभरे हुये स्थानको कांक (Convolution) और गहरे स्थान को सीता (Suleno) कहते हैं। इसका भीतरी भाग सफेद पदार्थ अर्थात् नाड़ी तन्तुओं से बना है। दूसरे अंश को वल्क (Cortex) कहते हैं! मस्तिष्क का बाह्य भाग सेलों से और भीतरी नाड़ी तन्तुओं से बना है। प्रत्येक गोलार्ध का नीचे वाला भाग खोखला रहता है और दोनों गोलार्धों के मध्य में एक पतला पदार्थ सा रहता है।

लघु मस्तिष्क —

इसमें भी दो गोलार्ध होते हैं और यह बृहत मस्तिष्क के नीचे रहता है। इसमें अनेक सीतायें होती हैं जो ज्यादा गहरी होती हैं। इसके तीन भाग हैं। दो गोलार्ध और नीचे का मध्यांश। इन दोनों के बीच में एक डंठल की तरह Corpus dentatum रहता है। इसमें तीन स्तम्भ होते हैं।

मस्तिष्क सेतु —

यह लघु मस्तिष्क के सामने का एक गोल घुमा हुआ भाग है। यह सफेद है। यहीं से सुषुम्ना, लघु मस्तिष्क और बृहत मस्तिष्क में जाने वाली नाड़ियां सब निकाली हैं। सेतु के नीचे छोटे-छोटे दो गोल दाने होते हैं। ये वृन्त पिण्ड (Corpus mammi-llare) कहलाते हैं उसके सामने एक वृहत पिण्ड (hiphosis), फिर दृष्टि योजिका (Optichiasm) और उसके बाद घ्राण पथ (Medula oblongata) है।

सुषुम्ना—

यह सुई की शकल की एक नाड़ी है। इसका लगभग एक इंच लम्बा सिरा ऊपर की ओर है। इसकी मोटाई सर्वत्र एक समान नहीं है। ऊपरी भाग सफेद और भीतरी धुमैला है। इसके मध्य में एक छिद्र है उसमें एक नाली रहती है जो मस्तिष्क के चतुर्थ कोष्ठक से जा मिली है तथा इसका दूसरा सिरा मेरुदण्ड की मध्य प्रणाली में है। मेरुदण्ड एक डेढ़ फुट लम्बी हड्डी है और इस समूचे मेरुदण्ड में छिद्र है। इससे नाड़ियों के जोड़े निकले हैं। इसका बाह्य भाग धूसर रंग के पदार्थ से और भीतरी भाग सफेद रंग के पदार्थ से भरा रहता है और मध्य में सौषुम्न पथ है।

नाड़ी या स्नायु—

मस्तिष्क शरीर के विभिन्न भागों में संवाद पहुँचाने का काम ये नाड़ियाँ करती हैं। नाड़ियाँ निम्नलिखित भागों में बाँटी गई हैं।

(१) मस्तिष्क नाड़ियाँ (Cranial nerve) वे हैं जो लघु मस्तिष्क के भीतरी पटल से निकली हैं। इनके १२ जोड़े हैं। एक-एक प्रत्येक पार्श्व में रहते हैं।

(२) सौषुम्न नाड़ियाँ (Spinal nerve) मेरुदण्ड या सौषुम्ना के दोनों पार्श्वों से नाड़ियों के ३१ जोड़े निकले हैं। इन्हें सौषुम्न नाड़ियाँ कहते हैं।

मस्तिष्क नाड़ियाँ नीचे लिखी हैं।

(क) घ्राण नाड़ियाँ (Olfatory nerves) इनसे घ्राण शक्ति प्राप्त होती है।

(ख) दृष्टि नाड़ियाँ (Optic nerves) ये चक्षु गोलक के पीछे से घुसती हैं और चक्षु चित्र पत्र के भीतरी स्तर में फैल जाती हैं। इससे देखने की शक्ति प्राप्त होती है।

(ग) नेत्र चालिनी नाड़ियाँ (Oculo motor nerves) इनसे आँख के कोने में गति प्राप्त होती है।

(घ) नेत्र चालनी द्वितीया (Trachlear) इससे आँख की पलकें ऊपर की ओर उठती हैं।

(ङ) त्रिधात्मा नाड़ी (Trigeminal nerves) इससे चेहरा, निचला जबड़ा नाक, मुँह जीभ का दो-तिहाई भाग और दाँत में गति पैदा होती है। इनसे चबाने, और कुचलने की शक्ति आती है।

(च) छठा जोड़ा (Abducens) इनसे आँख ऊपर की ओर उठती है।

(छ) मौखिकी नाड़ियाँ (Facial nerves) इनसे खोपड़ी और चेहरे की पेशियों में गति-शक्ति प्राप्त होती है और ये जीभ के लिये स्वाद प्रदान करती हैं।

(ज) श्रावणी नाड़ी (Auditory nerves) इनसे सुनने में सहायता मिलती है तथा स्थिति और शरीर की समता रक्षा में सहायता प्राप्त होती है।

(झ) जिह्वा कण्ठ नाड़ियाँ (Glosso pharyngeal) इनसे कण्ठ की पेशियों में तथा जीभ में रस का स्वाद लेने की शक्ति प्राप्त होती है।

(ञ) दशमी नाड़ियाँ (Vagus nerve) ये दोनों ही बड़ी नाड़ियाँ हैं। इनसे स्वर यन्त्र, टेंटुआ, फेफड़ा, आमाशय, पाकाशय, यकृत आदि में गति प्राप्त होती है।

(ट) एकादशी नाड़ियाँ (Spinal accessory) यह पीठ और गर्दन की पेशियों को गति देती है तथा कितनी ही मांस-पेशियों में गति शक्ति प्रदान करती है।

(ठ) द्वादशी नाड़ी (Hypoglossal) इनसे जीभ की पेशियों में गति मिलती है।

सौषुम्न नाड़ियाँ—

सुषुम्ना से नाड़ियों के ३१ जोड़े निकले हैं। ये सुषुम्ना से दो ओर से जुड़ी हैं और

दोनों ओर के छिद्रों से निकल कर समस्त शरीर में फैल गई हैं। जिन दो भागों में जुड़ी रहती हैं उन्हें पूर्व मूल (Auterior) और पिछले को पश्चिम मूल (Posterior) कहते हैं।

सौषुम्न नाड़ियां नीचे लिखी हैं :

८ कंठ देशीय

१२ वक्ष देशीय

५ कटि स्थानीय

५ त्रिकास्थि स्थानीय

१ गुदास्थि

नाड़ी संस्थान का पूरा हाल चीर-फाड़ के बिना पूरा नहीं मालूम हो सकता, तथापि इनके कार्यों को संक्षेप में बताया जाता है। बृहत मस्तिष्क में तीन प्रधान कार्य होते हैं।

ज्ञान — भाव — इच्छा

मतलब यह कि हम लोगों में तब तक ही ज्ञान रहता है जब तक मस्तिष्क जीवित है और यह चेतना मस्तिष्क में रक्त की उपस्थिति पर निर्भर करती है। स्मरण के सभी कार्य मस्तिष्क की क्रिया के ही परिणाम हैं। भाव केवल ग्रहण किया हुआ पदार्थ है। उदाहरण के लिये यदि हम चूना खा जांय तो दर्द होता है। परन्तु मस्तिष्क में भी बेचैनी होती है। सभी पेशियों की गतियों पर मस्तिष्क का शासन रहता है। हम अपने हाथ को हिलाने या रुक जाने की आज्ञा दे सकते हैं। ग्रन्थियों की क्रिया भी इसी तरह मस्तिष्क का ही क्रिया है। यहां तक कि बढ़िया भोजन देखने पर हमारे मुंह में पानी भर आता है। इस तरह की गति को परावर्तिक क्रिया कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि एक ऐसा भी भाव ग्रहण पटल है जो मस्तिष्क से अलग है जिसमें जब उत्तेजना होती है तो वह भाव मस्तिष्क में भेज देता है और उसके बाद मस्तिष्क पेशियों व ग्रन्थियों को जैसा आदेश देता है वैसा ही वे कार्य करती हैं। लघु मस्तिष्क रक्त में पेशियों की गति का सहयोग देकर समता की रक्षा करता है।

सुषुम्ना से निम्नलिखित क्रियायें होतीं हैं :

(१) हृदय की धड़कन।

(२) रक्त वाहिनियों में खिचाव बनाये रखना।

(३) श्वास प्रश्वास की क्रिया

(४) निगलना, बोलना, लाल स्राव, प्रसव मेरुदण्ड से दो क्रियायें होती हैं।

(क) शरीर सम्बन्धी कार्य :

(१) पेशियों की शक्ति में बल भरने का कार्य

(२) मल द्वार की पेशी की क्रिया को ठीक रखना।

(३) मूत्राशय ग्रीवा व मल द्वार ग्रीवा की क्रिया की रक्षा।

(४) जरायु में संकोचन पैदा करना।

(५) लिंग में उत्तेजना पैदा करना।

(ख) शरीर के किसी स्थान अथवा यन्त्र से जो भाव या अवस्था मालूम हो उसकी सूचना मस्तिष्क को देना।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे शरीर में जितने क्रिया-कलाप होते हैं उनका शासन कर्त्ता नाड़ी संस्थान है। यदि नाड़ियाँ शक्तिहीन हो जावें या अपना कार्य सुचारु रूप से न करें तो शरीर के अंग-प्रत्यंग रोगी हो जाते हैं। गठिया वात, वाई, पक्षाघात आदि भयंकर रोग हो जाते हैं। नाड़ी संचालन की क्रिया ऐसी प्रभावशाली है कि इसको करने से सम्पूर्ण नाड़ी संस्थान में बिजली की लहर दौड़ जाती है। वे सचेत होकर अपना काम यथार्थ रूप से करने लगती हैं। यदि नाड़ी संस्थान का कोई भाग अकर्मण्य हो गया है तो इस क्रिया से वहाँ पर बराबर झटके लगते हैं और थोड़े दिनों में वे ठीक होकर काम करने लगते हैं।

हमारे मेरुदण्ड में हड्डियों की लड़ी जुड़ी हुई है जिन्हें केशरुका (Vertebra) कहते हैं। ये संख्या में ३२ हैं अर्थात्

७ गर्दन में

१२ पृष्ठ भाग में

५ कटि प्रदेश में

५ त्रिकास्थि में

३ गुदास्थि में

वैज्ञानिकों का कहना है कि जब शरीर में कोई रोग होता है तो कोई न कोई केशरुकायें विकृति या टेढ़ी हो जाती हैं। योग-साधन में बताया जाता है कि आसन लगाते समय मेरुदण्ड को सीधा रखना चाहिये। जो लोग मेरुदण्ड को झुकाकर बैठते हैं उनकी केशरुकायें विकृति हो जाती हैं। मेरुदण्ड जब तक सीधा व लचकीला रहता है तब तक वृद्धावस्था नहीं आती है। अधिक आयु होने पर ये हड्डियां कड़ी पड़ जाती हैं और उनमें टेढ़ापन आ जाता है।

प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तर्गत एक आस्टोपैथिक चिकित्सा प्रणाली है। इस चिकित्सा पद्धति को जानने वाले भारत में कुछ ही डाक्टर हैं। विदेशों में इसके अच्छे-अच्छे डाक्टर हैं और इस प्रणाली के द्वारा बड़े भयंकर से भयंकर रोग भी दूर किये जाते हैं। आस्टोपैथी वालों का कहना है कि शरीर के किसी भाग में किसी प्रकार का रोग होने पर मेरुदण्ड की एक या अधिक केशरुकायें विकृत व टेढ़ी हो जाती हैं और जब तक उन्हें ठीक नहीं किया जायेगा तब तक रोग जा नहीं सकता है। आस्टोपैथी में चिकित्सक रोगी को लिटाकर उसकी मेरुदण्ड की हड्डियों पर हाथ की अँगुलियों से मालिश करता है। रोग के लक्षणों को देखकर चिकित्सक जान लेता है कि कौन-सी केशरुका टेढ़ी हो गई है। चिकित्सक अपनी कुशल अँगुलियों से उन हड्डियों को यथार्थ स्थिति में ले आता है और धीरे-धीरे रोग दूर हो जाता है। मालिश का कार्य दो चार या दस दिन तक करना पड़ता है। रोग की जड़ता के अनुसार उसकी आस्टोपैथिक चिकित्सा की जाती है।

आस्टोपैथी की चिकित्सा सीखने के लिये डाक्टरों को विदेश जाना पड़ता है तथा चार-पांच साल का कोर्स पास करके वे इस योग्य बनते हैं कि रोगी का इलाज कर सकें। इसके बाद उनकी अँगुलियां इतनी सक्षम् हो जाती है कि रोग की जड़ का पता लगा लेवें और उनकी विधिपूर्वक मालिश करके ठीक कर देवें।

हमारे महा प्रभुजी ने जीवन तत्त्व साधन की आठवीं क्रिया-नाड़ी संचालन का आविष्कार करके यह महान उपकार किया है कि मनुष्य बग़ैर किसी आस्टोपैथ की शरण में गये स्वतः अपना इलाज करके स्वस्थ बन जावे। नियमित रूप से पूर्ण समय तक नाड़ी संचालन की क्रिया करते रहने से विकृत केशरुकायें सीधी व यथार्थ स्थिति में आजाती हैं और रोग आपसे आप दूर हो जाता है। इस क्रिया को बराबर करने वाले साधक के मेरुदण्ड की केशरुकायें सीधी बनी रहती हैं और उनमें कोई टेढ़ापन नहीं आता। अतः किसी रोग के होने की सम्भावना नहीं रहती है। यह क्रिया बड़ी विचित्र लाभकारी व प्राणदायिनी है क्योंकि नाड़ी संस्थान के ठीक रहने पर जीवनी शक्ति पर्याप्त रूप में प्राप्त होती है।

अब अगले लेख में हम जीवन-तत्त्व साधन की नवीं क्रिया का वर्णन करेंगे।

संसार में

संसार भयंकर अन्धकार और प्रकाश की महान शक्तियों के संग्राम का अनुभव कर रहा है। एक ओर स्वार्थी मनुष्य है जो सुख और अधिकार प्राप्ति की पाशवी इच्छाओं की तृप्ति करने के लिए वे लगाम लालच और बेजोड़ द्वेष के लिए अन्धे की नाईं आगे बढ़ रहा है। कर्त्तव्य के अज्ञान से आदमी असभ्यता की नीचतम सीमा में पहुँच गया है और वह अपनी शिवात्मा को निर्जीव भूतकाल के विदीर्ण होते हुए विधियों के खँडहर के किसी कोने में देता है। स्वार्थ और अज्ञान के बन्धनों में बँधे हुए वे अपने दैवी ध्येय को भूल गये हैं। वे पथ-भ्रष्ट हो चुके हैं और उनके हृदय द्वेष और घृणा से फट चुके हैं।

मनुष्य में स्वार्थ का रोग जो विश्व-व्यापी और भयंकर है और जिसके इलाज की सख्त जरूरत है इतना गहरा गठा हुआ है कि यह चारों ओर से खोदकर ही निकाला जा सकता है। सच्ची शान्ति और सुख का प्रभाव तभी होगा जब मानव के सुख का अन्त हो जायेगा।

यद्यपि नियमों की रचना सर्वोत्कृष्ट तत्त्वों को अपनाने के लिए हुई है तथापि यन्त्रवत् नियमों के पालन करने का नाम आध्यात्मिक जीवन नहीं है। आध्यात्मिक जीवन अनुभव और ज्ञान का विषय है। आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है उस ज्ञान की उपलब्धि जो तमाम शाब्दिक व्याख्याओं से परे है।

★ श्री मेहरे बाबा

ब्रह्म चक्र रन्ध्र, और सहस्र दल कमल

[श्री जगदीश नारायण मेहरा एम० एम०-सी० (अजमेर)]

केन्द्र शक्ति और क्षेत्र

सहस्र दल कमल एक सम्पूर्ण समन्वयात्मक सामञ्जस्य प्रतिपादन का स्थिति अंकन है, जो कि स्वयं में, दो विरोधात्मक पूर्णों की परिपूर्णता और इस परिपूर्णता का समत्व धारण किये हुये रहता है। यह स्वयं में उस केवल एक का सम्पूर्ण अविस्तार है जो अपने में त्रिकोणात्मक विरोधी पूर्णों को धारण किये हुये है। यह उस निःस्वरूप का केवल एकमात्र स्थिति अंकन है, जो चिह्नित किया जा सकता है परन्तु कभी भी परिलक्षित नहीं किया जा सकता। किसी भी क्रियाशीलता द्वारा, इस स्थिति अंकन का परिलक्षण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है, इसलिये विकास क्षय की कोई भी गति अपने-अपने पृथकत्व द्वारा या अपने सम्मिलित स्वरूप में इसे प्रस्तुत नहीं कर सकती। जोड़ और गुण-विकास गति के द्योतक है तथा बाकी और भाग संकीर्णता के। पृथक-पृथक या अपनी सम्मिलित क्रिया गति द्वारा, ये केवल दो विरोधात्मक पूर्णों को प्रतिलक्षित कर पाते है परन्तु तीसरी त्रिकोणात्मक परिपूर्णता का स्थिति-अंकन कर सकना इसकी सामर्थ्य के परे है, इसलिये ये विकास गति के चारों स्वरूप उस "एक" को प्रस्तुत नहीं कर पाते उस सहस्र दल कमल का स्थिति अंकन नहीं कर सकते, जो वास्तव में केवल स्वयं "एक" है परन्तु अपनी सम्पूर्ण क्रियाशीलत्व में त्रिकोणात्मक पूर्ण विरोधत्व का स्थिति अंकन करता सहस्र हो जाता है—यही इसकी विशेषता है।

गणित द्वारा इस क्रिया सम्पन्नता की सम्पूर्ण विविधा को सरलता से प्रस्तुत किया जा सकता है। गति के चार क्रिया स्वरूप होते हैं उनमें से दो जोड़ और गुणा विकास गति के सूचक और शेष दो बाकी और भाग-संकीर्ण अगति के सूचक बनते है। स्व पर स्व की क्रिया, अपने चारों गति क्रमों में केवल तीन ही निज के स्वरूप प्रस्तुत करती है। अपने सम्पूर्ण विकसित स्वरूप में तथा अपने सम्पूर्ण संकीर्ण स्वरूप में वह अपरिवर्तित बना रहता है तथा अपने पूर्णत्व को धारे एक दिशा में वह "शून्य" तथा दूसरी विरोधी परिमाण में वह द्वैत बना चलता है। उस आधार पर 'सहस्र दल कमल को एक शून्य द्वैत" द्वारा स्थिति अंकित किया जा सकता है।

१ + १ विकास गति = २

१ × १ परम विकासगति = १

१ ÷ १ चरम संकीर्ण प्रगति = १

१ − १ संकीर्ण आगति = 0

'एक, शून्य द्वैत' क्षेत्र है और वह "एक" स्वयं इसका क्षेत्रज्ञ, जो अपने परम विकास, और चरम संकीर्ण रूप में अपरिवर्तित बना रह, शेष दो विरोधात्मक परिपूर्ण संकीर्णता और विकास को धारे हुये स्थित रहता है। 'शून्य' उसमें की परिपूर्ण संकीर्णता है और द्वैत, उसमें का स्वरूप विकास। वह स्वयं क्षेत्रज्ञ अपने परम विकास और चरम संकीर्णता को धारे हुये स्थिति अंकित किया जा सकता है। वह स्वयं क्षेत्रज्ञ "एक" है– उसकी प्रथम परिपूर्णता शून्याङ्कित है, जिसका सम्मिलित स्वरूप १० होता है "एक और शून्य"। उसकी द्वितीय पूर्णता: अपने पूर्ण और विरोधात्मक पूर्ण द्वारा – अर्थात् दूसरी "१०" संख्या द्वारा अंकित होती है (इसमें एक 'वह स्वयं अपरिवर्तित और उसके साथ उसकी चरम संकीर्णता द्योतक "शून्य" अपने सम्मिलित स्वरूप में।) तथा उसकी तृतीय विरोधात्मक पूर्णता इसी प्रकार एक तीसरी "१०" संख्या द्वारा अंकित होती है। इस प्रकार क्षेत्रज्ञ केवल एक है और उसका सम्पूर्ण समन्वयात्मक सामञ्जस्य एक परिपूर्णता और दो विरोधात्मक पूर्णत्वों से संकलित होती है– जो क्षेत्र कहलाती है क्षेत्रज्ञ युक्त क्षेत्र इसका सम्पूर्ण विकास है। इसका परम विकास अपनी चरम संकीर्णता को धारण किये हुये अर्थात् –

१० परिपूर्णत्व के

१० पूर्णत्व के

१० विरोधात्मक पूर्णत्व के अपने परम संकीर्णता को धारण किये हुये।

१०×१०×१०=१००० एक सम्मिलित क्षेत्र है जो अपनी अविस्तृत अवस्था में सहस्र दल कमल कहलाता है और उस सम्पूर्ण का प्रतिपादन करता है जिसमें से अगर एक पूर्ण निकाल लिया जावे तो बचा हुआ परिपूर्ण भी केवल एक पूर्ण रह जाता है। गणिताधार पूर्ण का संख्या द्योतक १० अंक ही है—एक वह स्वयं और दूसरा उसकी अविस्तार की चरम सीमा शून्य। यही योग का सहस्र दल कमल है। त्रिकोणात्मक दो विरोधी पूर्णों की परिपूर्णता धारण किये हुये। १००० की संख्या जिसमें केवल वह 'एक' प्रतिअंकित है और शेष तीन शून्य– उसकी त्रिकालिक, अन्यथा दिक्काल देश की अविस्तृती के शून्य सूचक है। यह अपने स्वरूप में उस क्षेत्रज्ञ के क्षेत्र का, क्षेत्रज्ञ युक्त क्षेत्र का स्थिति अंकन करती है इसीलिये सहस्र दल कमल कहलाती है, अन्यथा क्षेत्रज्ञ केवल एक ही है और इसके सहारे तीन शून्य दो विरोधात्मक पूर्णों की ओर और तीसरा उनकी परिपूर्णता की स्थिति अंकन करता है।

समस्त ब्रह्माण्ड दो विरोधात्मक पूर्णों के मध्य स्थित है पूर्ण दुख और पूर्ण सुख के मध्य। पूर्ण दुख आश्रित है शून्य सुख पर, और पूर्ण सुख शून्य दुख पर और ये दोनों सम्मिलित स्वरूप में केवल १०×१०=१००

संख्या का प्रतिपादन करते हैं—उसमें से ५० संख्या सुख की है और ५० ही संख्या दुख की। पहले ५० सुख की संख्या के क्षेत्र से मुक्ति प्राप्त करनी पड़ती है, फिर दूसरे ५० दुख की संख्या से मुक्ति निर्माण करनी पड़ती है, तभी दो विरोधात्मक पूर्णताओं के क्षेत्र से परे परिपूर्णता के क्षेत्र में पदार्पण करना सम्भव हो पाता है। इस १०० की संख्या के पश्चात् प्रत्येक १ संख्या के साथ १० और संख्या को लेकर परिपूर्णता के क्षेत्र में व्यापक बनना पड़ता है। यही 'नाद' की व्यापिका का क्षेत्र कहलाता है, परन्तु परि-पूर्णता की १० की संख्या का क्रम १ से ९ तक विस्तृत नहीं। इसकी अपनी एक पृथक विशेषता है। इसके विकास और परम विकास में कोई अन्तर नहीं। इसमें केवल तीन अंक ही विशेष हैं एक शून्य 'द्वैत' परन्तु केवल प्रधान २ अंक हैं 'एक और द्वैत'।

२+२=४ दो का विकास है

२×२=४ दो का परम विकास है

इसलिये केवल २ ही एक ऐसी संख्या है जिसका विकास और परम विकास अन्तरहीन बना चलता है—परिपूर्णता के क्षेत्र की यह प्रथम विशेषता है।

कदाचित् एवं शून्य द्वैत को इस प्रकार न लिखकर १, २, ३ संख्या क्रम के अन्तर्गत लिखें तो इस क्रम की विशेषताएँ पूर्णत्व के क्षेत्र में इस प्रकार हो जाती हैं :

(अ) १+२+३=२×३=६

तीनों का सम्मिलित विकास, दूसरे और तीसरे के परम विकास के बराबर है।

(ब) १+२=३

पहले दूसरे का विकास का तीसरा अंक केवल प्रदर्शन मात्र है।

(स) १+३=४=$२^{२}$

पहले और तीसरे का विकास दूसरे के परम विकास के बराबर है।

(द) १+$३^{२}$=१०=१+९

तीसरी संख्या के परम विकास की सूचक संख्या ९ है जो द्वैत के ही परम विकास का सूचक अंक है। अगर इस परम विकास को एक संख्या के साथ जोड़ कर अर्थात् १+९= संख्या कर दें—अर्थात् इस परम विकास अंक का अन्तिम विकास कर दें तो जो संख्या प्राप्त होती है वह है १०—वही मात्र जो कि उसके परम विकास का सूचक अंक है।

(ई) २+३=५

दूसरी और तीसरी संख्या का विकास सूचक अंक ५ है।

(ए) १+$२^{२}$=२+३=५

पहली और दूसरी संख्या का परम विकास का सम्मिलित विकास, दूसरे और तीसरे के विकास के बराबर है।

इस क्रम में—परिपूर्णता के क्षेत्र में, एक शून्य द्वैत के क्षेत्र में जो विशेष संख्या मात्र परम विकास सूचक है $२^{२}$ =४ वही उपलब्ध होती है शेष $१^{२}$ या $०^{२}$ अपने परम विकास क्रम में अपरिवर्तित रहती है। इस क्रम से सम्बन्धित जो संख्यायें उपलब्ध होती है वे हैं $१^{२}$, $२^{२}$, $३^{२}$ इन संख्याओं का परम विकास क्योंकि परिपूर्णता के क्षेत्र में विकास के लिये कोई स्थान नहीं– ये संख्यायें १, ४, ९ अपने परम विकास स्वरूप में स्थित रहती है—शेष संख्याओं, २, ३, ५, ६, ७, ८ के लिये कोई स्थान नहीं ये स्वयं में केवल दो और उसका परम विकास मात्र के द्योतक है (२ ३ दो है— और ५, ६, ७, ८, उनका परम विकास अर्थात् ४ संख्या अंकन) अर्थात् अदृश्य का भी परम विकास स्वरूप ये संख्या क्रम १ से ९ तक पूर्णत्व के क्षेत्र में प्रस्तुत बना रहता है जो दृश्य और अदृश्य का सम्मिलित परम विकास क्रम है। यही संख्या १ से ९ तक है यह संख्या क्रम अपने स्थिति अंकन में ऊपर लिखी ९ सीमाओं में अनुबन्धित बनी रहती है।

ब्रह्माण्ड की १०० संख्या का प्रतिपादन जो उसके पूर्णत्व के क्षेत्र की विरोधात्मक विकास द्योतक संख्या है वही महत्त्वपूर्ण संख्या है। प्रथम पूर्णत्व के ५० और विरोधात्मक पूर्णत्व से शेष ५० और। तदानुसार जीवात्मा में भी ५० आन्तरिक 'कमल' समस्त आन्तरिक व्यवस्था को साधे रहते हैं और शेष ५० बाहरी आवरण का निर्माण करते चलते हैं। आन्तरिक 'कमल' विस्तृती का क्रम इस प्रकार है :

(१) सहस्र दल कमल क्षेत्र	एक शून्य द्वैत		उन्मना, समना और व्यापिका क्षेत्र
(२) आज्ञा चक्र	२		शक्ति और नादान्त क्षेत्र
(३) आज्ञा चक्र का परम विस्तार	$=२^{२}$	=४	मूलाधार चक्र निर्माण नादान्त से
(४) $२+२^{२}$		=६	स्वाधिष्ठान चक्र का निर्माण आज्ञा चक्र और उसके परम विकास का सम्मिलित विकास द्योतक निरोधिका से अर्द्धेन्दु तक
(५) $२+२^{२}+२^{२}$		=१०	मणिपुर चक्र का निर्माण मूलाधार और स्वाधिष्ठान का सम्मिलित विकास। अर्द्धेन्दु से बिन्दु तक

(६) $+\left(२+२^{२}+२^{३}\right)$ =१२ अनाहत चक्र
आज्ञा+मणिपुर
आज्ञा+मूलाधार+स्वाधिष्ठान
तीनों का सम्मिलित विकास
'अ' की प्रथम उत्पत्ति अनाहत चक्र के पश्चात् प्रथम आहत ध्वनि

(७) $२^{२}+२^{२}+२^{२}+२^{२}$ = =१६ विशुद्धाख्य चक्र अ+उ+म्

$=४^{२}$ त्रिकोणात्मक विरोधाधार क्षेत्र मूलाधार का परम विकास या आज्ञा चक्र को परम विकास का शून्य दिग्काल देश अन्तर्गत सम्मिलित विकास।

इस प्रकार एक सीवन और एक शून्य द्वैत उसका क्षेत्र है समष्टिगत। व्यष्टि सीमा आरम्भ होती है द्वैत से, आज्ञा चक्र से— इसका व्यष्टि का दूसरा गठन केन्द्र होता है मूलाधार तीसरा स्वाधिष्ठान—एक ओर गठन होता है और अनाहत दूसरी ओर। चौथा गठन जो इस सीमा का अन्त है वह गठन बनता है विशुद्धाख्य जिसे, बाहरी मूलाधार साथे चलता है। चार परिमाणिक जीवात्मा का गठन क्रम इस प्रकार "शून्य दिगकाल देश" में गठित रहता है। इस द्वय आकार का एकमात्र केन्द्र बना रहता है मणिपुर १० कमल वाला चक्र जो अपने परम विकास में १०० संख्या को धारे चलता है ५० आन्तरिक चक्र बन्धनों की ओर ५० बाहरी चक्र बन्धनों की २+४+६+१०+१२+१६=५०) और जो ब्रह्माण्ड के दो विरोधात्मक पूर्णों का प्रतिपादित क्षेत्र है।

मूलाधार अन्तधारशक्ति क्षेत्र है जिसकी एक सीमा नादान्त और दूसरी निरोधिका है। नाद इस क्षेत्र की आन्तरिक अवस्था है और प्राण उसका बाहरी आवरण। बाहरी आवरण मूलाधार चक्र कमल का 'अतिकरण' है जो अन्तःकरण कहलाता है 'चार परिमाणिक' (चित्त+अहंकार+बुद्धि+मन)। अन्तधारशक्ति

रूपी चित् के कमल प्रतिबिम्ब है अहंकार बुद्धि और मन' जो क्रम से आज्ञा, विशुद्धाख्य और अनाहत चक्र केन्द्र मे स्थित रहते है। इस स्वरूप मे 'नाद प्राण और मन' - आधार प्रतिबिम्ब और छाया स्वरूप मे गठित बने रहते हैं। इनमें से एक की साधन से शेष दो स्वतः ही सधते चले जाते है। नाद साधो— प्राण या मन कल स्वतः एक-सा ही उपलब्ध होता है।

प्राण को प्राणायाम द्वारा साधा जाता है। स्थूल प्राण—भौतिक प्राणांश है। श्वास-निश्वास क्रम इसकी सन्तुलित साधना, सूक्ष्म प्राण क्षेत्र में पदार्पण प्रदान करती है। सूक्ष्म प्राण क्षेत्र सूक्ष्म शरीर है और इस सूक्ष्म प्राण की साधना अन्तस क्षेत्र में पदार्पण प्रदान करती है। यही शुद्ध प्राण क्षेत्र है और इन तीनों क्रमों में—भौतिक प्राण, स्थूल प्राण और सूक्ष्म प्राण दोनों में केवल मन को केन्द्रित करके ही प्रगति प्राप्त की जा सकती है। ध्यान ही एकमात्र इसकी साधना प्रणाली बनती है तथा इस साधना क्रिया द्वारा—इस प्राणायाम द्वारा, भौतिक, स्थूल और सूक्ष्म प्राण क्षेत्रों मे का क्रम पदार्पण, मन बुद्धि और अहंकार कारण क्षेत्रों का भी समन्वय प्रदान कर देती है। मन द्वारा भौतिक प्राण, बुद्धि द्वारा स्थूल प्राण और अहंकार द्वारा सूक्ष्म प्राण का समन्वयात्मक सामञ्जस्य प्राप्त किया जा सकता है।

सहस्र कमल की आन्तरिक व्यवस्था तथा बाहरी आवरण में कोई अन्तर नहीं। शून्यता मूलाधार चक्र कमल का 'अधिकरण' है जो अन्तःकरण कहलाता है 'चार परिमाणिक' (चित्+अहंकार+बुद्धि+मन) अन्तश्शक्ति रूपी चित के तीन कमल प्रतिबिम्ब है अहंकार बुद्धि और मन' जो क्रम से आज्ञा, विशुद्धाख्य और अनाहत चक्र केन्द्र में स्थित रहते है। इस स्वरूप मे 'नाम प्राण और मन'—आधार प्रतिबिम्ब और छाया स्वरूप मे गठित बने रहते है। इनमें से एक की साधन से शेष दो स्वतः ही सधत चले जाते है। नाद साधो— प्राण या मन कल स्वतः एक-सा ही उपलब्ध का क्षेत्र जब इस विभिन्नता से मुक्त हो जाता है तो फिर इससे पद का क्षेत्र, इस विभिन्नता की मुक्तता से भी मुक्त हो जाता है। सहस्र दल कमल न केवल शून्यता के पद का क्षेत्र है वरन् स्वयं मे वह एक ऐसी है जो "है" और नहीं है की परिकल्पना से भी पद का क्षेत्र है। जिसकी व्यापकता या अनुपस्थिति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता - वह स्वयं मैं इन चार परिमाणों से परे का इन चार धारणाओं से परे का अक्षेत्र है।

(१) है, नहीं नहीं है
(२) नहीं है,' 'है भी' नहीं है
(३) है, नहीं है
(४) 'नहीं है, 'है भी'

ब्रह्म रन्ध्र इस त्रिकोणात्मक, पूर्ण विरोध व्यवस्था का परिपूर्ण मुक्त पद है, जिसमें स्थित होने के लिये - दोनों विरोधात्क पूर्ण पक्षों से मुक्त होना पड़ता है। शून्य ही युक्त

का आधार प्राप्त कर इस परिपूर्णता का प्रारम्भ प्राप्त किया जाता है। इस शून्य से आरम्भ हो ब्रह्म रन्ध्र तक निर्विकल्प समाधि का क्षेत्र है। निर्विकल्पता से प्रारम्भ हो केवल्यता में होते होते परिवर्तित हो जाना ही केवल्यता को प्राप्त करना है। इसी प्रकार सविकल्पता का क्षीण होते जाना ही निर्विकल्पता की प्राप्ती बनता है और निर्विकल्पता की प्राप्ति का होने २ केवल्यता में परिवर्तित होते जाना ही केवल समाधि की उपलब्धि बनता है। निर्विकल्पता का परिवर्तन प्रारम्भ केवल समाधि का प्रारम्भ बनता है। ब्रह्म इस अन्तिम शून्य की भी रिक्तता है। ब्रह्म रन्ध्र महत का वह बिन्दु है जहाँ 'प्राण और नाद' अपना पृथक विसर्जन कर पुरुष बन जाते हैं और ज्योति कण स्वरूपी (Photon) का ज्योति बिन्दु और गुरुत्वाकर्षण प्रकृति में रूपान्तर हो जाता है। तब पुरुष और प्रकृति में प्राण अपनी निःस्वरूपता विसर्जित कर, पुरुष और प्रकृति उस अद्वैत में लीन हो जाते हैं। ब्रह्म, रन्ध्र में शुद्ध प्राण का प्रवेश, शुद्ध प्राण का वही हो जाना है जो वह स्वयं है। शुद्ध प्राणधारी जीव का सर्व प्रकृति के बन्धन शिथिल कर वह अनुभूति प्राप्त कर लेना है - जो वह स्वयं कभी न था।

शरीर में के षट चक्र प्रकृति आयुक्त षट् केन्द्र है जिनके द्वारा प्रकृति शरीर का शासन करती रहती है। ये षट द्वार भी है जिनमें प्रवेश प्राप्त कर इनका भेदन स्व कर प्रकृति के बन्धन शिथिल किये जा सकते हैं। इन षट् केन्द्रो पर स्थित होकर समस्त ब्रह्माण्ड का जो अवलोकन प्राप्त होता है वही षट् दर्शन की उपलब्धि बनता है।

'सहस्र दल कमल' स्वयं में आधार प्रतिबिम्ब और छाया है

" " " व्यवस्था में एक शून्य द्वैत है

" " " भौतिक सम्पूर्ण, परिपूर्ण परि-वेश में पूर्ण है।

" " " शून्य में सत् चित् आनन्द

" " " ब्रह्माण्ड में सत्यं शिवं सुन्दरं

शून्य और ब्रह्माण्ड– दो विरोधी पूर्णत्व अंको के सूचक है जो दो विरोधात्मक पूर्णों का प्रतिअंकन करते रहते है। इनका सम्मिलित शून्यांकन परिपूर्णता का शुभारम्भ बनता है और इस परिपूर्णता का सरल क्रम सम्पूर्णत्व प्रदान करता है।

इस शून्यता की परिपूर्णता ही 'ब्रह्म रन्ध्र' है और जो है भी, और नही है वही सहस्र दल कमल ब्रह्म चक्र है—यही सहस्र दल कमल ब्रह्म चक्र है।

महामुद्रा-महाबंध-एवं महावेध

[पूज्य पाद श्री गुरुदेवजी महाराज]

हमारे योगाचार्यों ने जहाँ पर अपने यौगिक ग्रन्थों में योगासनों का वर्णन किया है वहाँ पर उनके साथ-साथ मुद्राओं का भी वर्णन मिलता है। और मुद्राओं के फल का इतना बड़ा निरूपण है कि जिसको पढ़कर हर व्यक्ति उनके फल को पाने को लालायित हो जावेगा। यह भी भली प्रकार देखने में आया है कि जो लोग मुद्राओं के अभ्यासी हैं उन पर ये लक्षण पूर्ण रूप से घटित हो गये जिनका हमारे योगाचार्यों ने फल के रूप में उल्लेख किया है। इन सभी मुद्राओं के अन्दर दस मुद्राएं ऐसी हैं, जिनका विशेष रूप से वर्णन किया गया है, हम भी चाहते हैं कि अपने लेखों के अन्दर सर्व साधारण के हित के लिए इन मुख्य मुद्राओं का उल्लेख कर दें ताकि सर्व साधारण इसका लाभ ले सकें। इन मुद्राओं के नाम यह हैं :—

महामुद्रा महाबंधो
महावेधश्च खेचरी ।
उड्यानं मूलबन्धश्च
बंधो जालंधरा भिधः ॥
करणी विपरीताख्या
वज्रोली शक्ति चालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं
जरामरण नाशनम् ॥

अर्थात् महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध-खेचरी, उड्डयान, मूलबन्ध, जालंधर बंध विपरीत करणी, वज्रोली और शक्ति चालनी यह दश मुद्रायें हैं। इनके विषय में योगाचार्यों ने इनके फल वर्णन करते हुए मुद्राओं में उत्तम और जरा मरण को नाश करनी कहा है। महा मुद्रा का उल्लेख हठयोग प्रदीपिका में, हठयोगी आत्माराम ने इस प्रकार किया है :

महामुद्रा

पादमूलेन वामेन
योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा
धाराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥
कंठे बधं समारोप्य
धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दण्डहतः सर्पो
दण्डाकारः प्रजायते ॥

अर्थात् बायें पैर की एड़ी से योनिस्थान (सीवनी) को ताडन करे अर्थात् बायें पैर की एड़ी सीवनी स्थान में दृढ़ता के साथ लगाये। और उसी वाम पैर का पादतल उरु स्तम्भ से जमाकर रखना चाहिए। दाहिने पैर को फैलाकर उसके पाद तल को दोनों हाथों से दृढ़ता पूर्वक पकड़ लेना चाहिए। दक्षिण

पैर दण्ड के समान जमीन से चिपका रहे। ऐसी हालत में योगी साधक को चाहिए कि अपनी ठोढ़ी को छाती में लगाले। इसी को जालन्धर बन्ध कहते हैं। जलंधर बंध लगाकर अभ्यासी साधक आसन में बैठे और वायु को पश्चिमवाही रखे। जो लोग महामुद्रा का अभ्यास करते हैं, उनका वायु अपने आप पश्चिमवाही हो जाता है। अर्थात् सुषुम्ना में गति होने लगती है। जिस प्रकार से इस मुद्रा का अभ्यास बांये पैर से किया गया, उसी प्रकार दाहिने पैर को योनिस्थान में लगाकर और दूसरे पैर को फैलाकर पूर्ववत् अभ्यास करे।

महामुद्रा के अभ्यास का फल

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः
कुंडली सहसा भवेत्
तदा सा मरणावस्था
जायते द्विपुटाश्रया
ततः शनैः शनैरेव
रेचयेन्नैव वेगतः।
महामुद्रां च तेनैव
वदन्ति विबुधोत्तमाः॥

महामुद्रा के अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति सीधी होकर स्पन्दन करने लगती है उस समय इडा और पिंगला के व्यापार बन्द हो जाते हैं, सुषुम्ना चलने लगती है, साधक का शरीर स्थिर हो जाता है महामुद्रा करते हुए प्राण का रेचन शनैः शनैः करना चाहिए न कि वेग से। महामुद्रा के निरन्तर अभ्यास से अविद्यास्मितारागद्वेषादि क्लेश अपने ही आप शान्त हो जाते हैं। इस मुद्रा का अभ्यास जितनी देर बांये पैर से करे उतनी ही देर दाहिने पैर से भी करना चाहिए। जब दोनों पैरों का अभ्यास बराबर हो जाये तभी मुद्रा को छोड़ना चाहिए। ऐसा कभी न करे कि एक पैर से मुद्रा करके छोड़ दे। इस प्रकार करने पर साधना में बहुत बड़ा अन्तराय आ जायेगा, अतः दोनों पाद तलों से संख्यात्मक बराबर ही अभ्यास होना चाहिए। वही श्रेयस्कर रहेगा।

नहि पथ्यमपथ्यं वा
रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं
पीयूषमिव जीर्यति॥
क्षयकुष्ठ गुदावर्त
गुल्मा जीर्णपुरोगमाः।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति
महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्॥
कथितेयं महा मुद्रा
महासिद्धिकरा नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन
न देयायस्यकस्यचित्॥

महामुद्रा का अभ्यासी साधक पथ्यापथ्य कुछ भी सेवन करे महामुद्रा के अभ्यास से उसका पाचन अवश्य हो जाता है। हमारे आचार्यों का मत है कि इस महामुद्रा के अभ्यास करने से क्षय कुष्ट, गुदा के रोग, गुल्म और इसी प्रकार से मन्दाग्नि आदि सब

रोग दूर हो जाते हैं। महामुद्रा के अभ्यासी साधक के सभी रोग बिलकुल नष्ट हो जाते हैं। सर्व सिद्धिप्रद महामुद्रा का अभ्यास करने का आदेश दिया है। उत्तम अधिकारियों को ही इसका अभ्यास करना चाहिए। अधिकार शब्द का अर्थ है कार्यारम्भन सामर्थ्य जिस क्रिया का जो अधिकारी है वही उसका अभ्यास करता है तो क्रिया सफल हो पाती है, अन्यथा नहीं। अतः आचार्यों का उपदेश है कि उत्तमाधिकारी को ही सर्व सिद्धिकारी महामुद्रा का उपदेश करना चाहिए, चाहे जिस किसी को नहीं बताना चाहिए। देखने में यह क्रियायें साधारण-सी मालूम देती हैं किन्तु गुणों में अति गुणकारी सकल फलों की दात्री परम कल्याणकारी है। महामुद्रा के साथ में महाबंध और महावेध इन दोनों मुद्राओं का भी अभ्यास परमावश्यक है। अतः अब इससे आगे महाबंध शास्त्रोक्त विधि से बतलाते हैं।

महाबंध

पार्ष्णि वामस्य पादस्य
योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य
दक्षिणं चरणं तथा ॥
पूरयित्वा ततो वायुं
हृदये चिबुकं दृढम् ।
निष्पीडय वायुमाकुंच्य
मनोमध्ये नियोजयेत् ॥
धारयित्वा यथा शक्ति
रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्यांगे तु समभ्यस्य
दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥
मतमत्र तु केषां
चित्कंठबंध विवर्जयेत् ।
राजदन्तस्थ जिह्वाग्रा
बंधः शस्तोभवेदिति ॥

अर्थात् बांये पैर के पाद तल को योनि-स्थान सीवनी में दृढ़ता के साथ लगावे। और अपने दक्षिण चरण के पाद तल को बांयी जंघा पर जमावे (जैसे पद्मासन में पैर जमाया जाता है) उसी प्रकार से रक्खे। उसके बाद पेट में वायु भरकर पूरक करे और छाती में ठोढ़ी लगाकर जालंधर बंध करके त्योंही मूलबंध लगा लेना चाहिए। किन्तु यह मूल बंध खेचरी वालों को अनायास हो जाता है। इस विधि से महावेध का अभ्यास करके चित्त को प्रसार भूमि नाड़ी समूह का चिन्तन करे। जलंधर बंध लगाते समय अपना दायां जबड़ा दबावे, इस प्रकार किया हुआ यह महाबंध नाड़ियों के द्वारा होने वाली ऊर्ध्व गति को रोककर सर्व सिद्धि का दाता है।

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबंधो महासिद्धि प्रदायकः ॥

कालपाशमहाबंध विमोचन विचक्षणः ।
त्रिवेणी संगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥

यह महाबंध काल पाश से छुड़ाने वाला और त्रिवेणी संगम में स्नान का फल देने वाला और केदारनाथ शिव के ध्यान का फल प्रदाता होता है। महामुद्रा और महाबंध का फल ऊपर के श्लोकों में बता दिया गया है। महामुद्रा-महाबन्ध को धारण करने वाला यदि महावेध से खाली है तो वह यथार्थ सफलता को नहीं प्राप्त हो सकता, इसलिए महावेध का भी अभ्यास करे।

महावेध

महाबंधस्थितो योगी
कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य
निभृतं कंठ मुद्रया ॥
समहस्त युगो भूमौ
स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य
वायुः स्फुरति मध्यगः ॥
सोम सूर्याग्नि संबन्धो
जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्नाततो
वायुं विरेचयेत् ॥

योगी साधक को चाहिये कि ऊपर जो हम महाबंध समझाकर आए हैं, उसी प्रकार मुद्रा लगा करके वायु का पूरक करे और जलंधर बंध के द्वारा उस वायु को रोक ले। जो योगी इस अभ्यास पर बैठे तो दोनों हस्ततलों को जमीन पर रखकर अपने दोनों हस्ततलों को जमीन पर रखकर, अपने दोनों तलों को ठहरा कर कटि प्रदेश से लगे हुए नितम्ब भाग की ताड़ना दे अर्थात् पीटे, ऐसा करने से रुका हुआ वायु इड़ा-पिंगला के मार्ग को छोड़कर सुषुम्ना में बहने लगता है। ऐसा अभ्यास करने पर इड़ा-पिंगला का मार्ग रुक जाने से साधक को मरणावस्था प्राप्ति होती है। जब साधक का शरीर चेतना शून्य होने लगे तो रुका हुआ वायु जिसका पहले से कुम्भक किया हुआ था, वह शनैः शनैः दोनों नासा पुटों से छोड़ दे। इस मुद्रा का नाम महावेध मुद्रा है। यह महावेध मुद्रा परम सिद्धि की दाता है। जो साधक इस मुद्रा का अभ्यास करते हैं, उनके वली पलितादिविकार नष्ट होकर यौवन स्थिर रहता है।

एतत्त्रयं महा गुह्यं
जरा मृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव
ह्यणिमादि गुणप्रदम् ॥
अष्टधा क्रियते चैव
यामे यामे दिने दिने ।
पुण्य संभार संधायि
पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक् शिक्षावतामेवं
स्वल्प प्रथम साधनम् ॥

यह तीनों बन्ध महामुद्रा, महाबन्ध और महावेध परम गोपनीय हैं। बुढ़ापे और मृत्यु का नाश करने वाले हैं। अग्निवृद्धि करते हैं अणिमादि ऐश्वर्यों को प्रगट करते हैं। दिन और रात में इनको आठ प्रकार से किया जाय। पहले थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करे बाद में बढ़ा दे अभ्यास किए हुए तीनों बंध पुण्यों को बढ़ाते हैं, पापों का नाश करते हैं। अतः अभ्यासी को चाहिए कि परम रहस्य-मय मुद्राओं को बार-बार करे। पहली बार के शिक्षण में थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करे। शनैः शनैः अभ्यास को बढ़ाकर लक्ष्य की प्राप्ति तक जो हठाभ्यासी योगी इन तीन मुद्राओं का निरन्तर अभ्यास करते हैं वे कभी भी पराजय को प्राप्त नहीं होते और जरा-वली-पलितादि से बचकर सदा युवावस्था को कायम रखते हैं। किन्तु एक बात परमावश्यक है, अपने शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार किसी भी अभ्यास को हम आदर-पूर्वक लम्बे समय तक नियमानुसार करेंगे तभी वह अभ्यास फलदायी ही हो सकता है कोई व्यक्ति यह विचार करे कि वह अमुक अभ्यास को दो चार रोज से कर रहा है और कोई परिणाम नहीं हुआ तो ऐसी बात नहीं। परिणाम तो निकलेगा ही। इसलिए साधक को अनुत्साही नहीं होना चाहिए। नियम से निरन्तर से साधन करते रहना चाहिए।

———

पुनर्जन्म के प्रकार

पुनर्जन्म के कई प्रकार हैं। पहिले आत्मा प्राण के साथ मिलकर मेघ-मण्डल का आश्रय करता है और वृष्टि के साथ वृक्ष-वनस्पतियों पर सिंचित होता है। इस समय यह 'जलात्मा' कहलाता है। इसका यह पहला जन्म है।

यह जल वृक्ष-वनस्पतियां पीती हैं, जिससे यह वृक्ष-वनस्पतियों में रहने लगता है। यह इसका दूसरा जन्म है। इस समय यह 'अन्नात्मा' कहलाता है।

वृक्ष-वनस्पतियों का अन्न स्त्री-पुरुष खाते हैं, उससे उनके शरीर में रज और वीर्य बनता है। यह उसका तीसरा जन्म है। इस समय इसको 'वीर्यात्मा' कहते हैं।

इस वीर्य से स्त्री के शरीर में गर्भाधान किया जाता है। वहां गर्भाशय में यह रहता है। यह इसका चौथा जन्म है। इस समय इसको 'गर्भात्मा' किंवा 'मातरि-श्वा' (माता के उदर में रहने वाला) कहा जाता है।

गर्भ-स्थिति के अनंतर दशम मास में माता के उदर से वह बाहर आता है, यह उसका पांचवां जन्म है। इसको 'पुरुषात्मा' कहते हैं। इस तरह पांचवे जन्म में जीवनपूर्ण जल मनुष्य-रूप में परिणत होता है।

योग ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है

[श्री वैद्य रामधन शर्मा, शास्त्री]

कर्म से देह मिलता है। देहधारी जीव कामना से बंधता है। काम से वह लोभ के वशीभूत होता है, और लोभ से क्रोध के अधीन हो जाता है। और क्रोध से धर्म का नाश होता है। धर्म के नाश से बुद्धि बिगड़ जाती है और जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह मनुष्य पुनः पाप करने लगता है। अतः देह पाप की जड़ है। क्योंकि

लोभात् कामः प्रभवति
लोभात् कामः प्रजायते।
लोभात् मोहश्च नाशश्च,
लोभः पापस्य कारणम् ॥

अर्थात् उसकी पाप कर्म में प्रवृत्ति होती है। इसलिये मनुष्य इस देह के भ्रम को त्याग कर किस प्रकार मोक्ष को प्राप्त हो सकता है।

उत्तर—क्योंकि नारायणेव मोक्ष प्रदोभव

अर्थात् नारायण ही मोक्ष का देने वाला है। जिनकी आज्ञा से ब्रह्माजी सम्पूर्ण जगत की सृष्टि और विष्णुजी पालन और रुद्रजी संहार करते हैं। महत्तत्व से लेकर विशेष पर्यन्त सभी तत्व जिनके प्रभाव से उत्पन्न होते हैं। उन रोग, शोक, से रहित सर्वव्यापी भगवान् नारायण को ही मोक्षदाता जानना चाहिये। सम्पूर्ण जगत् चराचर जिनसे भिन्न नहीं है। तथा जो जरा और मृत्यु से परे हैं। उस तेज प्रभाव वाले भगवान् नारायण का ध्यान करके मनुष्य दुःख से—मुक्त हो जाता है। जो विकार रहित अजन्मा सर्वत्र शुद्ध स्वयं प्रकाश निरञ्जन ज्ञान रूप तथा सत् चिदानन्द मय है, जिनकी ब्रह्मा आदि देवता सदा आराधना करते हैं। वे श्री हरि ही सनातन धाम के दाता हैं। उनको जानने के लिये योग का साधन करना अत्यावश्यक है।

पतञ्जलि भगवान कहते हैं।

समाधौरीश्वरः

अर्थात् समाधि से ही ईश्वर की प्राप्ति होती है। जो कल्प के अन्त में सबको अपने भीतर समेट कर स्वयं जल में शयन करते हैं, वेदार्थ के ज्ञाता कर्मकाण्ड के विद्वान नाना प्रकार के यज्ञों द्वारा जिन का भजन करते हैं, वे ही भगवान कर्म फल के दाता हैं। और निष्काम भाव से कर्म करने वालों को वे ही मोक्ष देते हैं। जो ध्यान प्रणाम अथवा भक्ति पूर्वक पूजन करने पर अपना सनातन स्थान वैकुण्ठ प्रदान करते हैं। उन दयालु भगवान की आराधना करनी चाहिये जो आनन्दस्वरूप जरा रहित परम ज्योतिर्मय सनातन एवं परात्पर ब्रह्म हैं वही भगवान विष्णु का सुप्रसिद्ध परम पद है।

जो योगी पुरुष योग मार्ग की विधि से ऐसे परम तत्त्व की उपासना करता है, वह परम पद को प्राप्त प्राप्त होता है। जो सब प्रकार की आसक्तियों का त्याग करने वाला शम, दम आदि गुणों से युक्त और कामादि दोषों से रहित है, वह योगी परम पद को पाता है।

कर्म योगियों के कर्मयोग की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर—तत्त्वार्थ का विचार करने वाले ज्ञानी पुरुषों का कहना है कि परम मोक्ष ज्ञान से होने योग्य है। उस ज्ञान का मूल है भक्ति, और भक्ति प्राप्त होती है (भगवदर्थ) कार्य करने वालों को। भक्ति उत्कृष्ट श्रद्धा से ही बनती है और सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। पापों का विनाश हो जाने पर निर्मल बुद्धि का उदय होता है। वह निर्मल बुद्धि ही ज्ञानी पुरुषों द्वारा ज्ञान के नाम से बतायी गयी है। और ज्ञान को मोक्ष का देने वाला कहा गया है। वैसा ज्ञान योगियों को ही होता है। कर्मयोग और ज्ञान योग इस प्रकार से दो प्रकार का योग कहा गया गया है। कर्मयोग बिना मनुष्यों को ज्ञानयोग सिद्ध नहीं होता। अतः कर्मयोग में तत्पर होकर श्रद्धा पूर्वक भगवान श्रीहरि की पूजा करनी चाहिये। ब्राह्मण, भूमि, अग्नि, सूर्य, जल, धातु, हृदय, तथा चित्र नामावली ये भगवान केशव की आठ प्रतिमायें हैं। इनमें भक्ति पूर्वक भगवान का पूजन करना चाहिये और मन, वाणी, क्रिया द्वार दूसरों को पीड़ा न देते हुए भक्ति भाव से संयुक्त हो सर्वव्यापी भगवान विष्णु की पूजा करे।'

अहिंसा सत्यमक्रोधो
ब्रह्मचर्यापरिग्रही।
अनीर्षा च दया चैव
योग यारुभयोः समाः।

अर्थात्—अहिंसा, सत्य क्रोध का अभाव ब्रह्मचर्य अपरिग्रह ईर्ष्या का त्याग तथा दया ये सद्गुण ज्ञान योग और कर्मयोग - दोनों में समान रूप से आवश्यक हैं। यह चराचर विश्व सनातन भगवान विष्णु का ही स्वरूप है। ऐसा मन से निश्चय करके उक्त दोनों योगों का अभ्यास करें। जो ज्ञानी पुरुष समस्त प्राणियों को अपने आत्मा के समान मानते हैं वेही देवाधि देव सुदर्शन चक्रधारी भगवान विष्णु के परम भाव को जानते हैं। और जो दूसरों के दोष देखने ? संलग्न होकर। तपस्या पूजा और ध्यान में प्रवृत होता है उसकी वह तपस्या पूजा और ध्यान सब व्यर्थ होते हैं। इसलिये शमदम आदि गुणों के साधन में लगकर विधिपूर्वक क्रियायोग में तत्पर हो। तथा मनुष्य अपनी मुक्ती के लिये सर्व स्वरूप भगवान विष्णु की पूजा करे।

जो सम्पूर्ण लोकों के हित साधन में तत्पर हो मन वाणी और क्रिया द्वारा ईश्वर भगवान विष्णु का भलीभाँति पूजन करता रहे। जो जगत कारण भूत सर्वान्तर्यामि सर्वव्यापी एवं सर्व पापहारी भगवान विष्णु की स्तोत्र आदि के द्वारा स्तुति करता है।

ईशावास्यमिदं जगत्यां जगत्,
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा इत्यादि।

बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि वह शास्त्रार्थ विशारद साधु पुरुषों के सहयोग से इस चराचर विश्व में स्थित नित्य और अनित्य वस्तु

का भली भांति विचार करे। संसार के सभी पदार्थ अनित्य है। केवल भगवान श्रीहरि नित्य माने गये हैं। अतः एक अनित्य वस्तुओं का परित्याग करके नित्य श्री हरि का आश्रय लेना चाहिये। इह लोक और परलोक में जितने भोग हैं। उनकी ओर से विरक्त होना चाहिये और जो भोगों से विरक्त नहीं होता है, वह संसार में फंस जाता है। जैसे भँवरा कमल फूल में बन्द हो जाता है। जो मानव जगत के अनित्य पदार्थों में आसक्त होता है, उसके संसार बन्धन का नाश कभी नहीं होता। अतएव शमदम आदि गुणों से सम्पन्न हो मुक्ति की इच्छा रखकर ज्ञान प्राप्ति के लिये साधन करे। जो शमदम तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान आदि गुणों से शून्य है: उसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। जो रागद्वेष से रहित समाधि गुणों से सम्पन्न तथा प्रतिदिन भगवान विष्णु के ध्यान में तत्पर है, उसी को मुमुक्षु कहते हैं। इन चार नित्या-नित्या वस्तु विचार, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व साधनों से मनुष्य विशुद्ध बुद्धि कहा जाता है। ऐसा पुरुष सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति दया भाव रखते हुए सदा सर्व व्यापी भगवान विष्णु का ध्यान करे। क्षर अक्षर स्वरूप सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करके भगवान नारायण विराजमान है, ऐसा जो जानता है, उसका ज्ञान योग्य माना गया है। अतः मैं योग का उपाय बतलाता हूँ, जो संसार बन्धन को दूर करने वाला है।

पर और अपर भेद से आत्मा दो प्रकार का कहा गया है। अथर्ववेद की श्रुति भी कहती है कि दो ब्रह्म जानने योग्य हैं पर आत्मा अथवा परब्रह्म को निर्गुण बताया गया है। तथा अपर आत्मा या अपर ब्रह्म अहंकार युक्त (जीवात्मा) कहा गया है। इन दोनों के अभेद का ज्ञान—ज्ञानयोग कहलाता है। इस पाञ्चभौतिक शरीर के भीतर हृदय देश में जो साक्षी रूप में स्थित है, उसे साधु पुरुषों ने अपरात्मा कहा है। तथा परमात्मा पर (श्रेष्ठ) माने गये हैं। शरीर को क्षेत्र कहते हैं। जो क्षेत्र में स्थित आत्मा है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। परमात्मा अव्यक्त शुद्ध एवं सर्वत्र कहा गया है। जब जीवात्मा और परमात्मा के अभेद का ज्ञान हो जाता है तब अपरात्मा के बन्धन का नाश होता है।

परमात्मा एक एवं सुख दुःखादि रहित सर्वज्ञ सर्व व्यापकश्च। जीवात्मा प्रति शरीरं भिन्नम् विभू नित्यश्च।

अर्थात्—परमात्मा एक शुद्ध अविनाशी नित्य एवं जगन्मय है। वह मनुष्यों में बुद्धि भेद से दिखायी देता है (उपनिषदों द्वारा वर्णित जो एक अद्वितीय सनातन परब्रह्म परमात्मा है उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

यदात्मभेद विज्ञानं
जीवात्म परमात्मनोः।
भवेत्तदा मुनि श्रेष्ठ
पाशच्छेदोऽपरमात्मनः॥

एकः शुद्धोऽक्षरो नित्यः
परमात्मा जगन्मय ।
नृणां विज्ञान भेदेन
भेदवानिव लक्ष्यते ॥

एक मेवाद्वितीयं यत्परं ब्रह्म सनातनम् ।
गीय मानंच वेदान्तैस्तस्मान्नास्ति परं द्विज॥

अर्थात्—उन निर्गुण परमात्मा का कोई रूप है न कर्त्तव्य कर्म है न कर्त्तव्य या भोक्तृत्व ही है। वे सब कारणों के भी आदि कारण है। सम्पूर्ण तेजों के प्रकाशक परम तेज है। उनसे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है। मुक्ति के लिये उन्हीं परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। शब्द ब्रह्ममय जो महावाक्य है। अर्थात् वेद वर्णित जो (तत्वमसि) सोऽहमस्मि इत्यादि महावाक्य हैं, उन पर विचार करने से जीवात्मा और परमात्मा का अभेद ज्ञान प्रकाशित होता है। वह मुक्ति का सर्व श्रेष्ठ साधन है जो उत्तम ज्ञान से हीन है। उन्हें यह जगत नाना भेदों से युक्त दिखायी देता है। परन्तु परम ज्ञानियों की दृष्टि में वह सब पर ब्रह्म रूप है। परमानन्द स्वरूप परात्पर अविनाशी एवं निर्गुण परमात्मा एक ही है। किन्तु बुद्धि भेद से भिन्न-भिन्न अनेक रूप धारण करने वाले प्रतीत होते हैं। जिनके ऊपर माया का पर्दा पड़ा है, वे माया के कारण परमात्मा में भेद देखते हैं अतः मुक्ति की इच्छा रखने वाला पुरुष योग के बल से माया को निस्सार समझ कर त्याग दें। माया न सद्रूप है। न असद्रूप, न सद् असद उभय रूप है। अतः उसे अनिर्वाच्य समझना चाहिये। यह केवल भेद बुद्धि प्रदान करने वाली है। अज्ञान शब्द से माया का ही बोध होता है। अतः जो माया को जीत लेते हैं, उनके अज्ञान का नाश हो जाता है।

एक एवं परा नन्दो निर्गुणः परतः परः
भाति विज्ञान भेदेन बहुरूप धरोऽव्ययः
भाटीनो मायया भेदं पश्यन्ति परमात्मनि
तस्मान्मायां त्यजेद्योगान्मुमुक्षुर्द्विज सत्तमः

ज्ञान शब्द से सनातन पर ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया जाता है। क्योंकि ज्ञानियों के हृदय में निरन्तर परमात्मा प्रकाशित होते रहते हैं। योगी पुरुष योग के द्वारा अज्ञान का नाश करें। योग आठ अङ्गों से सिद्ध होता है।

यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि—अब क्रम से संक्षेप से इनके लक्षण बतलाता हूं। अहिंसा, सत्य, आस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अक्रोध और अनसूया से संक्षेप से यम बताये गये है।

सम्पूर्ण प्राणियों में जो किसी को कष्ट न पहुँचाने का भाव हो उसे अहिंसा कहते है। अहिंसा योग मार्ग में सिद्धि प्रदान करने वाली है। धर्म अधर्म का विचार कर जो यथार्थ बात कही जाती है उसको सत्य कहते है। चोरी से या बलपूर्वक जो दूसरे के धन को हर लेता है उसको असतेय कहते है। इसके विपरीत किसी की वस्तु को न लेना।

(शेष अगले पृष्ठ के नीचे)

अमरआत्मा
श्री खुशीराम गर्ग

[ब्रह्मचारी केशवदेव]

अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्णने श्रीमद्-भगवद्गीता में अर्जुन को विविध प्रकार के उपदेश दिये है किन्तु उसके मन में फिर भी अनेक प्रकार के सन्देह बने रहे और उसने सन्देह निवृत्ति के लिये एक प्रश्न कर ही डाला। प्रश्न में उसकी जिज्ञासा थी। वह यह जानना चाहता था कि एक योग भ्रष्ट व्यक्ति किस गति को प्राप्त हुआ करता है। इसकी जानकारी के लिये उसने भगवान से पूछ लिया कि हे प्रभो! कृपा कर यह बतलाइए कि जो लोग योगाभ्यास करते हुए विचलित हो जाते है योग की पराकाष्ठा को नहीं पहुँचते उनकी गति क्या होती है।

अयति श्रद्धयोपेतो
योगाच्चलित मानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धि
कां गति कृष्ण गच्छति ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्ट
श्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो
विमूढोब्रह्मणः पथि ॥

अर्थात् जो लोग श्रद्धा से युक्त है और श्रद्धा रहते हुए भी पूरे मन से प्रयत्न नहीं कर पाते अपनी योग-साधना में विचलित हो जाते है वह योग सिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होते है? कहीं ऐसा तो नहीं हो जाता कि वे लोग उभयतो भ्रष्ट होकर आकाश में फटे हुए बादल के समान ब्रह्म मार्ग में विमूढ होकर बीच में ही नष्ट हो जाते हों?

भगवान् श्रीकृष्ण ने इसका उत्तर दिया :

पार्थ नैवेह नामुत्र
विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याण कृत्कश्चित्
दुर्गतिं तात गच्छति।
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा
शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे
योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

(शेष पिछले पृष्ठ का)

अस्तेय कहते है। मैथुन का त्याग ब्रह्मचर्य कहा गया है। आपत्तिकाल में भी द्रव्यों का संग्रहन करना अपरिग्रह कहा गया है।

यह योग मार्ग में उत्तम सिद्धि प्रदान करने वाला है। जो अपने उत्कर्ष जताते हुए किसी के प्रति कठोर वचन बोलता है। उसके उस क्रूरतापूर्ण भाव को क्रोध कहते हैं। धन आदि के द्वारा किसी को बढ़ते देखकर ईर्षा के कारण से जो मन में सन्ताप होता है उसे अनुसूया कहते है। योगमार्ग के साधक को इन दोषों से बचना चाहिए।

अथवा योगिनामेव
कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके
जन्म यदीदृशम् ॥
तत्र तं बुद्धि संयोगं
लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः
संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव
ह्रियते ह्यवशोऽपिसः ।

अर्थात् हे अर्जुन जो योगी अभ्यास करता प्रमादवश अपनी साधना पूरी नहीं कर पाता फिर भी उसका प्रयास विफल नहीं होता, इस लोक और परलोक में दोनों ही जगह उसकी शुभ गति होती है। कहीं भी उसका विनाश नहीं होता । कल्याण मार्ग पर चलने वाला कोई भी दुर्गति को प्राप्त नहीं हुआ करता है। ऐसा व्यक्ति जो चाहते हुए भी अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सका, वह उस पवित्र प्रयास के फल-स्वरूप पुण्यात्माओं के लोक को प्राप्त करके एवं बहुत लम्बे समय तक वहाँ रह करके पुनः भूमण्डल पर पवित्र धनवानों के घर जन्म लिया करता है । अथवा योगियों के ही कुल में उसका जन्म हो जाता है और वहाँ जन्म ले लेने पर उसको पौर्व दैहिक संयोग मिल जाता है ऐसा संयोग प्राप्त होने पर एवं पौर्व दैहिक प्रेरणा को पाकर वह पुनः अपने अभ्यास की ओर लग जाता है और सिद्धि प्राप्त करने के लिए पूरा-पूरा प्रयत्न करता है। इस प्रकार का बुद्धि संयोग एवं पवित्र घर में जन्म यह दोनों ही दुर्लभ वस्तु हैं । ऐसे बुद्धि संयोग को पाकर साधक उत्कृष्टता के साथ बढ़ता चला जाता है। कुछ भी न हो सके तो भी योगाभ्यासी साधक कर्मकाण्ड के दायरे से तो हजारों गुना आगे निकल ही जाता है।

आज मैं अपने इस लेख में जिन पवित्रात्मा का जिक्र करना चाहता हूँ—वह हैं हमारे आदरणीय भाई, लाला खुशीराम गर्ग। मैंने अपने आदरणीय भाई खुशीरामजी के बारे में जो महत्वपूर्ण चर्चायें पूज्यपाद श्रीगुरुदेवजी (योगिराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के मुखारविन्द से सुनी हैं वह तो हैं ही इसके अतिरिक्त मैंने उनकी जन्म भूमि में जाकर उनका जो परिचय प्राप्त किया वह कहीं और भी अधिक महत्वपूर्ण है। आदरणीय भाई श्री खुशीरामजी का जन्म अलुपुर गाँव जिला करनाल में हुआ था। श्रीगुरुदेवजी के चरण कमलों से इनका सम्बन्ध बचपन से ही था । यह स्कूल में पढ़ने जाते तब श्रीगुरुदेवजी के दर्शन करके जाते और स्कूल से जब लौटकर आते तब श्री गुरुदेवजी के ही चरण कमलों में चले आया करते थे। इनको अपने खाने पीने व अपने संगी साथियों में कुछ भी रुचि नहीं थी। इनके मन में उत्कण्ठा बनी रहती थी कि वे स्कूल के बाद

श्री गुरुदेवजी के मुखारविन्द से श्री योग-योगेश्वर प्रभुश्री रामलालजी के चरित्र एवं योग सिद्धान्त की बातें सुनें। बचपन में भाई श्री खुशीरामजी अपने निर्जी शिवालय में जाकर भगवान शिव की आराधना किया करते थे। यद्यपि उस समय इनकी उम्र बहुत छोटी यानी लगभग १२ या १४ साल की ही थी। अपनी कक्षाओं में यह सर्वोत्कृष्ट रहा करते थे। पढ़ाई में बहुत बड़ी लगन रहती थी किन्तु फिर भी प्रातःकालीन शौचादि कृत्यों से निवृत्त होकर शिवार्चन एवं शिव चालीसा का पाठ करना इनके पालनीय नियमों से एक था। भाई श्री खुशीरामजी अपने मुखारविन्द से यह बतलाया करते थे कि मुझको श्री शिवजी की आराधना के फलस्वरूप ही श्रीगुरुदेवजी के चरण-कमल मिले हैं तथा उनकी कृपा से ही पवित्र योग मार्ग में मेरा झुकाव हुआ है। होनहार बिरवान के होत चीकने पात, की युक्ति भाई श्री खुशीराम के जीवन पर पूर्णरूपेण घटित होती गई। उनके चाल-चलन से उनके मृदु भाषण और सद् व्यवहार से हर व्यक्ति यह अनुमान लगा लेता था कि यह अवश्य ही कोई दिव्यात्मा है। भाई श्री खुशीराम का जन्म पवित्र अग्रवाल कुल के प्रतिष्ठा-प्राप्त धनी घर में हुआ था। बाल्यावस्था में ही इनके सद्‌गुणों से प्रभावित होकर इनके विवाह सम्बन्ध के लिए लोग आने लगे। परिणाम-स्वरूप इनके पिता लाला ज्ञानीरामजी ने इनका विवाह कर दिया। किन्तु इससे खुशीराम के मन में किसीप्रकार का हर्ष-शोक नहीं हुआ। श्रीखुशीराम ने अपना गृहस्थ जीवन सन्त पुरुषों की तरह व्यतीत किया। सबसे बड़े मान-सम्मान की बात यह थी कि वह एक पत्नी व्रती थे। कभी कहीं भी किसी प्रकार से हँसी मजाक में भी परस्त्रियों से बात नहीं करते थे। शनैः शनैः श्रीगुरुदेवजी के चरण कमलों से इनका सम्पर्क बढ़ता गया एवं समय बीतने पर पूज्य श्रीगुरुदेवजी के चरण-कमलों से अमिट सम्बन्ध जोड़ लिया। अर्थात् इन्हीं से गुरुदेवजी से योग दीक्षा प्राप्त कर ली। दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद भाई श्री खुशीरामजी की गुरुभक्ति दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगी। और उनके जीवन में तरह तरह के चमत्कार घटित होने लगे। किसी प्रकार की कठिनाई सामने आती तो प्रत्यक्ष में देखते कि तेज हवा जिस प्रकार बादल को उड़ा कर ले जाती है इसी प्रकार से श्री प्रभुजी उनकी रक्षा कर रहे हैं और उन पर आने वाली कठिनाइयाँ हवा होकर उड़ रही हैं। भाई श्री खुशीरामजी को अपने गार्हस्थ्य जीवन की व्यस्तता के कारण अपनी नैत्यिक साधना के लिए तो समय कम ही निकल पाता था किन्तु फिर भी गुरुभक्ति के भाव मन में घर कर चुके थे। उनके चिन्तन में कोई कमी नहीं आई। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है कि—

सत्य वचन निरतता,
परतिय मातु समान।
इतने में हरि ना मिलें
तुलसीदास जमान।

अर्थात् जो व्यक्ति सत्यवादी है साधन शील है एवं परस्त्रियों में मातृ भावना रखकर उनसे दूर रहता है। श्री तुलसीदासजी कहते हैं कि हमारी उसमें जमानत है। ऐसे व्यक्ति को भगवान श्री हरि के दर्शन अवश्य ही प्राप्त होते हैं। भाई श्री खुशीरामजी के जीवन में यह दोहा पूर्णरूपेण घटित था। और सबसे बड़ी विशेषता की बात यह थी कि उनके सत्य पर उनके विरोधियों को भी पूर्ण विश्वास था। गाँव के लोग सब यही जानते थे कि खुशीरामजी किसी का पक्षपात नहीं करते हैं। न्याय के मामले में कभी भी पीछे कदम नहीं हटायेंगे। अपना हो या पराया उनके मन में यत्किंचित भी भेदभाव नहीं था। उनका लक्ष्य था सत्य व्यवहार प्राणीमात्र का हित चिन्तन, पर दोषों को न देखकर अपने दोषों को देखना एवं आत्म-चिन्तन में मग्न रहना। अखिलआत्मा ने अपनी भगवत् गीता के बारहवें अध्याय के अन्त में सम चित्त वाले सन्तों के लक्षण कहते हुए निम्नांकित श्लोक लिखे हैं:

यो न हृष्यति न द्वेष्टि
न शोचति न कांक्षति
शुभाशुभपरित्यागी
भक्तिमान्यः स च मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रेच
तथा मानापमानयोः।
शीतोष्ण सुखदुःखेषु
समः संग विवर्जितः॥
तुल्य निन्दा स्तुतिर्मौनी
संतुष्टो येनकेन चित्।
अनिकेतः स्थिरमतिः
भक्तिमान्मे प्रियोनरः॥

अर्थात् किसी प्रकार का प्रिय कार्य करने पर जो हर्षित नहीं होता, किसी से द्वेष नहीं होता, तथा किसी से कुछ चाहने की चिन्ता भी नहीं करता। शुभ और अशुभ फलों का त्याग करने वाला है शत्रु मित्र मान और अपमान, सर्दी और गर्मी सभी में संग विवर्जित होकर समान भाव होकर स्थित है। निन्दा स्तुति में जो बराबर है सब प्रकार से भक्तिप्रधान जो व्यक्ति है वह मुझे प्रिय है। श्री तुलसीदास के कहे हुए दोहे के लक्षण एवं उपरोक्त श्लोकों के अन्दर अखिलात्मा का सन्देश भाई श्रीखुशीरामजी के जीवन में पूर्णरूपेण घटित हुआ था। उनका सरल जीवन बहुत ही सराहनीय था। फिर भी उनके जीवन की अन्तिम झांकी तो इतनी अवर्णनीय है कि जिसका जिह्वा कुछ कथन नहीं कर सकती एवं मन बिलकुल मन्त्रमुग्ध की तरह रह जाता है। उन्होंने अपने अन्तिमकाल को पहले से जान

लिया था। और गांव के सभी लोगों को विशेषतः अपने गुरुभाइयों को पूर्ण दृढ़ता के साथ बतला दिया था कि अब लगभग मैं एक या डेढ़ महीना ही जिन्दा रहूँगा। मेरा यह शरीर वैसाख कृष्णा-द्वादशी तक शान्त हो जायेगा। लोगों को यह सब बातें बतला देने के बाद भाई श्री खुशीरामजी रुग्ण हो गये, किन्तु रुग्णावस्था में भी तरह-तरह के शोभन दृश्य होते रहे। पर मन में दृढ़ विश्वास था कि उनकी किसी प्रकार भी अवनति नहीं हो सकती। उन्होंने रुग्णावस्था में अपनी एक पड़ोसिन वृद्धा ब्राह्मणी रुक्मणिदेवी से बात करते हुए कहा कि दादी ! मैंने अपने जीवन में परस्त्री गमन आदि किसी भी प्रकार के दुष्कर्म नहीं किए हैं किसी के साथ अन्याय नहीं किया। सत्य एवं न्यायसंगत ही सभी बातें की हैं। अतः मुझे यह ज्ञान है कि मेरा यह शरीर तो अवश्य चला जायेगा किन्तु अवनति मेरी नहीं होगी। कुछ ही दिनों बाद ऐसी रुग्णावस्था में श्रीखुशीरामजी ने देखा कि यमराज उनको लिवाने को आया है। किन्तु आगे बढ़ने का साहस नहीं कर रहा है। यम देखता है कि अपने बच्चे के सिर पर हाथ रखे हुए श्री प्रभुजी उनके सिरहाने बैठे हैं। यम श्री प्रभुजी की ओर हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है कि हे प्रभो ! क्या आज्ञा है क्या किया जाय। यम को इस प्रकार प्रार्थना करते देखकर श्री प्रभुजी हँसे और उनके मुख से निकला महान प्रकाश खुशीराम के मकान में पूर्ण रूप से व्याप्त हो गया। उसी दिव्य तेज के अन्दर भाई श्री खुशीरामजी को अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण के प्रतिक्षण दर्शन होने लगे। एक क्षण को भी भगवान श्रीकृष्ण उनसे अलग नहीं रहते थे। इस अवस्था में श्री खुशीराम बाह्य बोध से शून्य होकर पड़े रहते थे। वह अपने पास बैठने वालों को कभी देखते भी थे तो झटपट उनसे कहते कि तुम सब चुप-चाप मेरे पास बैठे हुए हो। देखते नहीं भगवान श्रीकृष्ण कितनी सुन्दर मुरली बजा रहे हैं उनकी गौएं कितनी सुन्दर हैं हमारे घर में कितना प्रकाश भरा है। एक बार उनकी पत्नी उनके पास बैठी थी उसकी ओर देखकर कहा—तू मेरे पास बैठी क्या कर रही है। यह देवलोक की स्त्रियाँ मेरे ऊपर चंवर पंखे डुला रही हैं तू इनकी कुछ सेवा नहीं करती न इनको कुछ खिला-पिला रही है। न भगवान श्रीकृष्ण को ही देखती है। देख वह अपने सखाओं में बैठे कैसे हँस रहे हैं। यह था उस दोहे का अर्थ जो श्री खुशीराम के जीवन में पूर्णरूपेण घटित हुआ। जिसकी जमानत श्री तुलसीदास ने स्वयं की है। जैसे

सत्य वचन नीरतता
परतिय मातु समान।
इतने में हरि ना मिले
तुलसीदास जमान॥

उनकी समागम रही, रही अन्तिम समय भाई श्री खुशीरामजी के सामने हरि प्रत्यक्ष रूप में प्रगट बने रहे।

अन्तिम गति

भाई श्री खुशीरामजी ने अपना मृत्युदिन पहले से बतला दिया था। शनैः शनैः वह दिन आ गया। प्रातःकाल ही खुशीराम ने अपनी मातुश्री से कहा—माँ! तू मुझे स्नान करा दे मैं नेति कर लेता हूं। तू स्नान करा कर नये वस्त्र पहना दे, अब जल्दी कर देर की आवश्यकता नहीं। खाट पर मेरा नया बिस्तर बिछा। यह कहकर श्री खुशीराम ने स्नान किया। स्नान करने के बाद खाट पर लेटकर ध्यान मग्न हो गये एवं पूर्ववत् श्रीकृष्ण लीला के दर्शन करने लगे।

अचेतनावस्था में एक स्मृति

भाई श्री खुशीरामजी को अचेतनावस्था में एक ख्याल आया कि उनको किसी के एक रुपया छः आने पैसे देने थे। अकस्मात् चेतना आते ही अपनी माता से कहते है कि माँ यह एक रुपया छः आना फलां व्यक्ति के हैं तुम अवश्य-अवश्य दे देना। मुझ पर किसी का कोई भार न रहे। यह कहने पर पुनः अचेत हो गये और उसी प्रकार श्रीकृष्ण लीलाओं का दर्शन करने लगे। शनैः शनैः समय बढ़ता गया श्रीकृष्ण दर्शन बराबर हो रहे हैं। श्री खुशीराम की माता पास बैठी थी भाई खुशीराम अपनी माँ से कहते हैं कि माँ देखो विमान आ गया है कितना सुन्दर है इसके आसपास कितना प्रकाश छाया है। इसका डाइवर कितना सुन्दर है। दिव्य चतुर्भुज पुरुष है वह देख मुझे बुला रहा है। किन्तु मैं इस विमान में बिलकुल नहीं बैठूंगा। तू छत फोड़ दे मैं छत में से निकलकर जाऊँगा किन्तु उनकी माता उनके उच्च भावों को न समझ सकी। उनके भाव थे। ब्रह्म रन्ध्र भेदन से श्री खुशीराम अनन्य गुरुनिष्ठ व्यक्ति थे। उनका सूक्ष्म शरीर ब्रह्माण्ड भेदन कर ब्रह्म विवर से निकलना चाहता था। सूक्ष्म शरीर के लिए स्थूल शरीर का शिरोभाग का ब्रह्म विवर ही छत था जिसको उनकी माता न समझ सकी। वह वैसे ही बैठी रही। अन्तिम क्षणों में श्री खुशीराम ने फिर कहा माँ तू यहीं बैठी रही मैं दो बार उड़कर गया छत में टक्कर खाकर मेरा सिर भी फूट गया, किन्तु तैने छत नहीं फोड़ी। पहले विमान वाला अब जल्दी कर रहा है मुझे बार बार बुला रहा है। अब तो श्रीकृष्णजी भी उस विमान में जाकर बैठ गये और वह भी मुझे वहीं बुला रहे है। अच्छा मैं भी अब जा रहा हूँ यह कहते-कहते एवं दिव्य विमान को देखते देखते भाई श्री खुशीराम ने अपने नश्वर देह को त्यागकर अमरगति पाई। अखिल आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्द से स्वयं कहा है कि—

अन्त काले च मामेव
स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।

यः प्रयाति स मद्भावं
याति नास्त्यत्र संशयः ॥
यं यं वापि स्मरन्भावं
त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय
सदा तद्भाव भावितः ॥

अर्थात् अन्तिम समय में जो मेरा स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है वह मेरे को ही प्राप्त करता है। आज सभी के लिए यह साधारण नियम है कि जो जो प्राणी जिन जिन भावों को लेकर शरीर छोड़ता है। वह वह प्राणी वैसी ही गति को प्राप्त हुआ करते हैं। भाई श्री खुशीराम अनन्य गुरुभक्त निष्ठावान एवं योग सिद्धान्तों मे उच्चतम श्रद्धा रखने वाले उत्तम अधिकारी थे। किन्तु अभ्यास करने के कुछ प्रयत्न में सिथिलता रहती थी किन्तु परम गुरुभक्ति एवं अनन्य निष्ठा के पुण्य फल स्वरूप उच्चतम देवलोक के अधिकारी हुए।

यह था भाई श्री खुशीरामजी की अनन्य निष्ठा एवं योग परायणता का फल। श्री भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा है कि—'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते' अर्थात् योग का जिज्ञासु भी कर्मकाण्ड के दायरे से आगे निकल जाता है।

उद्‌बोधन !

मनुष्य के पास कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये इन्द्रिय हैं और इनसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धका भोग लिया जाता है। इन भोगों में फंसने वालों को रोगादिकों का दुःख भोगना पड़ता है; अतः भोगों में न फंसने का यत्न करना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये मनुष्य नियम करे कि 'मैं अच्छे शब्दों का ही प्रयोग करूंगा, अच्छे ग्रन्थ ही पढ़ूंगा और अच्छे शब्द ही सुनूंगा; रसना की स्वाधीनता के लिये स्वाद में न फसूंगा और अ-स्वाद व्रत का पालन करूंगा। स्वास्थ्य के लिए जिस अन्न की आवश्यकता है, वैसा ही अन्न लूंगा और स्वाद बढ़ाने का यत्न न करूंगा। स्पर्श के विषय में तथा रूपादि के विषय में इसी प्रकार अन्यान्य प्रलोभनों के विषय में भी मैं यत्नपूर्वक संयम का मार्ग स्वीकार करूंगा।' इस रीति से प्रयत्न करने पर मनुष्य मोह के आवरण को तोड़ सकता है, कीचड़ को धो सकता है और आवरण अन्धकार को दूर कर सकता है। इस रीति से व्यवहार करने पर मनुष्य अपनी बुद्धि के मोह रूप आवरण को (बुद्धिः मोहकलिलं व्यतितरिष्यति) हटा सकता है और अपनी बुद्धि को स्वच्छ, पवित्र और मलहीन कर सकता है।

साधकों के प्रश्न तथा उनके उत्तर

(श्री सद्गुरुदेव जी द्वारा)

प्रश्न—हे गुरुदेव ? त्रिलोक पावन भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद् भगवद् गीता में अर्जुन को उपदेश देते हुए इस प्रकार का आदेश दिया है—

योगस्थः कुरु कर्माणि
संगं त्यक्त्वा धनंजयः ।
सिद्धयसिद्धयो समो भूत्वा
समत्वं योग उच्यते ॥
दूरेण ह्यवरं कर्म
बुद्धि योगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ
कृपणा फल हेतवः ॥
बुद्धि युक्तो जहातीह
उभे सुकृत दुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व
योगः कर्मसु कौशलं ॥
कर्मजं बुद्धियुक्ताहि
फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्म बन्ध विनिर्मुक्ताः
पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

'अर्थात् हे अर्जुन सिद्धि और असिद्धि में समानता रखकर सब प्रकार के संग को छोड़कर योगस्थ होकर कर्म करो। क्योंकि समत्व को ही योग कहा गया है। बुद्धियोग की अपेक्षा कर्म बहुत निम्न है क्योंकि फल की इच्छा रखने वाले बहुत दीन होते हैं इसलिए तुम बुद्धि की शरण ग्रहण करो। इस संसार में बुद्धियोग को प्राप्त करने वाला मनुष्य पाप और पुण्य के झमेले को छोड़ देता है। तुम भी पाप-पुण्य के झमेले को छोड़कर योग को प्राप्त करो। कर्म कौशल को ही योग कहते हैं। जो बुद्धिमान लोग कर्मफल का त्याग कर देते हैं वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होकर पाप रहित परम पद को प्राप्त हो जाया करते हैं। इन दो श्लोकों के अन्दर अखिलात्मा श्रीकृष्ण ने पाप-पुण्य रहित परम पद की ओर ले जाने वाले निष्काम कर्मयोग का उपदेश दिया है। मैं यह जानना चाहता हूँ वह कौनसा बुद्धियोग है जिसको प्राप्त कर मनुष्य निर्वाण परमपद शास्वत शान्ति को प्राप्त कर सके ?

उत्तर—सौम्य ? तुम्हारा प्रश्न बिलकुल ठीक है अखिलात्मा के इस उपदेश को सुन करके अर्जुन के मन में भी यही भाव पैदा हुए थे इन्हीं भावों से प्रेरित होकर उसने

भगवान् श्रीकृष्ण से स्थित प्रज्ञ पुरुष के लक्षण पूछे थे। वह सभी प्रकरण तुम्हारे समझने लायक एवं तुम्हारे प्रश्न के अनुरूप उत्तर है। अतः तुम्हारे समझाने के लिए वह सब प्रकरण जैसे का तैसा तुम्हें अंकित करवाये देता हूँ। तुम उस प्रकरण को पढ़कर दीनता के देने वाले सकाम कर्म को छोड़कर निष्काम कर्मयोग के अभ्यासी बनो। अर्जुन ने भगवान् से इस प्रकार प्रश्न किया था :

स्थित प्रज्ञस्य का भाषा
समाधिस्थस्य केशव ?
स्थितधीः किं प्रभाषेत
किमासीत व्रजेत किम् ॥

अर्थात् हे अखिलात्मा केशव भगवान् समाधिस्थ स्थित प्रज्ञ का क्या लक्षण है वह क्या बोलता है कैसे चलता है और कैसे बैठता है कृपा करके बतलाइये। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रश्न का उत्तर निम्नांकित श्लोकों में दिया।

प्रजहाति यदा कामान्
सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः
स्थित प्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः
सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग भय क्रोधः
स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेह—
स्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
यदा संहरते चायं
कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य
स्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

अर्थात् जो साधक मनोगत सभी कामनाओं का परित्याग कर देता है और अपने आत्मा के अन्दर अपने आप ही सन्तुष्ट रहता है, समझना चाहिए वह स्थितप्रज्ञ है। दुःखों को प्राप्त करके जो दुखी नहीं होता एवं सुखों की स्पृहा जिसके मन से निकल जाती है, राग-भय-क्रोधादि से जो बिलकुल रहित है, ऐसे मुनि को स्थित धी समझना चाहिए। जो सर्वत्र वीतराग है, सभी शुभाशुभ को प्राप्त करके न खुश होता न द्वेष करता उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार से कछुआ अपने अंगों को सिकोड़कर अपने कलेवर में छिपा लेता है इसी प्रकार जो व्यक्ति इन्द्रियों को इन्द्रियार्थों से हटाकर अपने वश में कर लेता है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है। ऐसा व्यक्ति स्थित प्रज्ञ कहलाने का पूर्ण अधिकारी है।

विषया विनिवर्तन्ते
निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य
परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

अखिल आत्मा, अर्जुन को उपदेश करते हुए कहते हैं कि निराहारस्य देहिनः विषया विनिवर्तन्ते। निराहार रहने वाले व्यक्ति की विषय वासना नष्ट हो जाती है, किन्तु रस की भावना उसके मन के अन्दर बनी रहती है। वह उसकी रस भावना भी गुणों में गुणों का अवस्थान हो जाने पर दर्शन के बाद बिल्कुल निवृत्त हो जाती है।

कष्टात्कष्टतरि क्षुधा

अर्थात् भूख मनुष्य को दुःख से भी महा दुःख को देने वाली है। भूखे मनुष्य से यदि कहा जाय कि चलो तुम्हें स्वांग दिखा दें सिनेमा दिखादें तो वह चट-पट जवाब देता है कि अरे भाई तुम्हें तो मजाक सूझ रही है मैं भूख के मारे मरा जा रहा हूं इस प्रकार वह दुःख में स्वांग-सिनेमा देखने से मना करता है किन्तु उसकी इन्द्रियां स्वांग एवं सिनेमा के रस को जानती अवश्य हैं। यह जो रस-भावना उसके मन मे बनी हुई है वह पूर्णरूपेण आत्म साक्षात्कार हो जाने के बाद निवृत हो जाती है। ऐसी बुद्धि अवस्य स्थिर हो जाया करती है। भगवान् पुनः इन्द्रियों की प्रबलता बतलाते हुए उपदेश करते हैं।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशेहि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

अर्थात् हे अर्जुन ? बुद्धिमान पुरुष यत्न करते रहते हैं किन्तु यत्न करते रहने पर भी इन्द्रियाँ मसल डालने वाली हैं बलात् मन को हर ले जाती हैं। उन सबको नियन्त्रण में करके जो व्यक्ति योग-युक्त होकर मेरे में मन लगाता है उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए यत् किंचित अपने मन को विचलित न होने दे। कितने ही लोग अपने आपको 'सिद्धोऽहं बलवान्सुखी' मान करके इन्द्रियों की बागों को ढीली छोड़ देते हैं। और मुझ पर वासना का क्या प्रभाव पड़ सकता है इस अहंकार से युक्त होकर इन्द्रियार्थों में विचरने लगते हैं। वे लोग धोखा खाते हैं। परिणामस्वरूप उनका पतन होते देखा गया है। इसी बात पर विचार कर भगवान् श्रीकृष्ण आदेशात्मक संकेत करते हुए समझाते हैं कि :

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

अर्थात् ज्यों-ज्यों मनुष्य विषयों का चिन्तन करता है त्यों-त्यों उनके नजदीक पहुँचता जाता है। जितना-जितना विषयों के निकट पहुँचता है उतना-उतना उसके मन में कामना बढ़ती चली जाती है। शास्त्रीय सिद्धान्त है कि —

न जातु कामः कामानामुपभोगेनशाम्यति।
हविषाकृष्णवर्त्म एव भूयभूयेवाभिवर्धते ॥

मन में पैदा हुई कामना उसके उपभोग से शान्त नहीं होती प्रत्युत अग्नि में हवि डालने पर ज्यों अग्नि बढ़ती जाती है इसी प्रकार कामनाओं के उपभोग से कामोपभोग वासना भी बढ़ती ही चली जाती है। और कदाचित् कामनायें पूर्ण न हों तो मनुष्य के मन में अत्यन्त क्रोध बढ़ता चला जाता है। और अत्यन्त क्रोध बढ़ने पर मनुष्य के मन में मोहमद पैदा हो जाता है मोह से स्मृतिभ्रंस और स्मृति नाश हो जाने पर बुद्धि नाश और बुद्धि नाश हो जाने पर प्रणस्यति के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता। इसलिए—

जो व्यक्ति विषयों का सेवन रागद्वेष रहित होकर करते हैं वह आत्म वशी लोग महान कृपा प्रसाद को पा जाते है। और प्रसाद पा जाने पर सब दुःखों से छूटकर स्थित प्रज्ञता को प्राप्त कर लेते हैं।

नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखं ॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

जो मनुष्य अयुक्त है अर्थात् जिसका मन के ऊपर कोई नियन्त्रण नही है, उसकी बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती। और न ही वह किसी प्रकार से धारणा ध्यान कर सकता है। और जो व्यक्ति भावना रहित है उसको शान्ति कहाँ। अशान्त व्यक्ति को सुख कहाँ हो सकता है। जिसकी इन्द्रियाँ अपने विषयों में विचरण करती हैं और वह व्यक्ति इन्द्रिय धर्मों के अन्दर अपने मन को लगा देता है, ऐसा इन्द्रियों के विषयों में लगा मन बुद्धि को इस प्रकार हर ले जाता है जैसे जलाशय में पड़ी नाव को वायु खींचकर ले जाया करता है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निग्रहीतानि सर्वशः
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञाप्रतिष्ठिता ॥

इसलिए हे अर्जुन जिसकी इन्द्रियाँ इन्द्रियार्थों से हटी हुई है और उसके वश में है वह मनुष्य स्थिर बुद्धि वाला है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है। जो लोग अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रख के अन्तर्मुख बन जाया करते हैं उनका सारा का सारा सांसारिक दृश्य ही बदल जाता है। उनके लिए क्या होता है वह कैसी स्थिति में रहा करते है। यह सब समझाते हुए अखिलात्मा क्या उपदेश करते हैं, पढ़िये—

या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।

अर्थात् संसार के सभी प्राणियों की जो रात है उसमें मुनि लोग जगते रहते हैं। और जो संसार वालों का दिन है उसमें मुनि लोग सोया करते हैं। इसका अर्थ यूँ

समझ लेना चाहिए कि मुनि लोग आध्यात्मिक जगत में जगते रहते हैं कहानों दृश्यों को देखते रहते हैं। आम सांसारिक जीवों का उस चिन्मय अध्यात्म जगत में प्रवेश बिलकुल होता ही नहीं एवं इस चलते-फिरते संसार में व्यापार—(विजिनिस) में खेती-बाड़ी में या अन्य सभी लौकिक कार्यों के अन्दर सांसारिक लोगों की चहल-पहल मची रहती है, और वे लोग उसमें जगते रहते हैं। किन्तु मुनि लोगों के लिए यह सब व्यवसाय रात्रि के समान है इसमें यह लोग सोये रहते हैं जिससे सांसारिक व्यवहार का ज्ञान उनको हो ही नहीं और वे अपने आध्यात्मिक मार्ग में उत्कर्ष पाते चले जायें। वैसे इस श्लोक के शाब्दिक अर्थानुसार भी अधिकांश में यह देखने में आता है कि मुनि लोग रात्रि में जागकर अपने योगाभ्यास आदि कर्म किया करते हैं एवं दिन में आराम करते रहते हैं। इसका कारण केवल यही होता है कि रात्रि में अभ्यास करने से संसार वालों के मन योगी के मन में अन्तराय पैदा नहीं करते। क्योंकि उस समय सुषुप्ति अवस्था में वे सभी मन कारण में लय रहा करते हैं। सांसारिक व्यक्ति जब किसी का कोई चिन्तन करता है तो उसका मन तत्काल उसके पास पहुँच जाता है। यह दूसरी बात है कि जिस व्यक्ति के पास वह मन गया है वह उस मन को देख सके या न देख सके। क्योंकि मन जैसे सूक्ष्म तत्त्व को दिव्य दृष्टि के द्वारा ही देखा जा सकता है। किन्तु मनों का यातायात होता अवश्य रहता है। इसलिए अखिलात्मा ने यह शब्द कह दिये कि जो संसार वालों की रात है वह मुनि लोगों के लिए दिन है। जो संसार वालों का दिन है वह मुनि लोगों के लिए रात है। इसलिए—

> आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
> समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
> तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
> स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

कभी भी न भरे जाने वाले समुद्र में हजारों नदी-नाले विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार से जिस मनुष्य की सभी कामनायें विलीन हो जाती हैं वह शान्ति को प्राप्त होता है। कामनाओं के पीछे दौड़ने वाला व्यक्ति कभी भी शान्ति को प्राप्त नहीं होता।

अतः सब कामनाओं को छोड़ कर जो निस्पृह होकर विचरता है, वह अवश्य ही स्थिर प्रज्ञ हो जाता है। अखिलात्मा अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन इस स्थिति का नाम ही ब्राह्मी स्थिति है। इस स्थिति को पाकर मनुष्य संसार में मोह को प्राप्त नहीं होता। जो योगी अपने जीवन में इस अभ्यास को परिपक्व कर लेता है। वह अवश्य ही निर्वाण-पद को पा जाता है। इसलिए हे सौम्य ! तुमने अखिलात्मा परम योग योगेश्वर श्रीकृष्ण की इस अमृत वाणी को भली प्रकार समझ लिया होगा। अतः इसमें बतलाये उपदेशों को अपने जीवन में घटाने का प्रयत्न करो। अखिलात्मा के एक आदेश को प्रतिक्षण सामने रक्खो। वह उनका 'निष्काम कर्मयोग' का आदेश है जैसा कि उन्होंने अपने मुखारविन्द से अर्जुन को उपदेश दिया है कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

पराकाया-प्रवेश

मन जो अत्यन्त ही चञ्चल है उसका एक शरीर में स्थिर रहना यह कर्मफल के बन्धन से है और वह-कर्म्म बन्धन समाधि में शिथिल होता है और समाधि ही से चित्त का प्रचार अर्थात् नाड़ी का परिज्ञान भी जाना जाता है। जब योगी के समाधि बल से कर्म्म बन्धन ढीले हो जाते हैं और चित्त के प्रचार को भी योगी जान जाता है तब उसको यह शक्ति हो जाती है कि वह अपने चित्त को पर शरीर में प्रविष्ट कर देता है और चित्त के गमन से इन्द्रियां भी चित्त की अनुगामिनी होती हैं क्योंकि इन्द्रियों की रानी मक्खी के समान हैं जैसे रानी मक्खी के उड़ने से सब मक्खियां उड़ती हैं और जहाँ वह बैठती है वहीं सब बैठ जाती हैं।

— व्यासदेव

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्ध योग

संस्थापक संपादक तथा संरक्षकः
योगिराज अनंत श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

अन्नमयं हि सौम्य मनः। आपोमयः प्राणः।

छान्दोग्य ६-५-४

अन्नमय मन है, जलमय प्राण है, इसलिए अन्न और जल के उत्तम रहने पर ही मन और प्राण उत्तम अवस्था में रहते हैं। जिसका मन कैसा है इसकी परीक्षा कौन-सा अन्न उसे प्रिय है, इससे हो सकती है। जिसको तामस अन्न प्रिय होता है, उसकी सम्पूर्ण मन इन्द्रियां तामस होंगी इसमें सन्देह नहीं। अतः यदि किसी का मन शुद्ध करना अर्थात् सात्त्विक बनाना है तो उसको सात्त्विक भोजन सेवन करना उचित है। अन्न से मन बनता है यह तत्त्व ध्यान में धारण करना साधक के योग्य है।

सात्त्विक अन्न ही साधक को सेवन करना चाहिए और वह परिमित एवं योग्य रीति से सिद्ध किया हुआ होना चाहिए।

— श्रुतिसार

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई मण्डी, ताजगंज, आगरा-१